४
पत्र-प्रस्तुति

कार्यशाला गोष्ठी से पहले ही कार्यशाला के विषय से मिलते हुए विभिन्न मुद्दों पर पत्र तैयार करने के लिए सहभागियों को सूचना दे दी गई थी । पत्र-प्रस्तुति के लिए इस सत्र की आयोजना अलग से एक साथ की गई थी ताकि उन पत्रों को कार्यशाला के सहभागियों के सामने प्रस्तुत किया जा सके । पत्र-प्रस्तुत कर्त्ताओं को तीन समूह में रखा गया । इन समूहों में विभिन्न देशों को शामिल किया गया, और भिन्न-भिन्न विषयों और भिन्न-भिन्न मुद्दों के विभिन्न पक्षों पर, विस्तार से सहभागियों का बात चीत करना ही इस सत्र का उद्देश्य था । सहभागी इन तीनों समूहों में (जो भिन्न विषयों पर आधारित था) भाग लेने के लिए स्वतंत्र थे । समूहों में पत्र प्रस्तुति के बाद एक सभा-सत्र की भी आयोजना की गई थी, जिसमें उन समूहों में विचार किए गए विषयों को कार्यशाला के सभी सहभागियों के समक्ष संक्षेप रूप में रखा जा सके ।

श्री ए.एल. जोशी, मुख्य योजना अधिकृत, वन तथा भू-संरक्षण मंत्रालय, द्वारा वानिकी पर पत्र प्रस्तुति

समूह एक

उत्तराखण्ड में प्राकृतिक स्रोतों का संरक्षण एवं आधारभूत पक्ष
द्वारा श्री चण्डी प्रसाद भट्ट एवं रमेश पहाडी

यह बहुत पहले की बात नहीं थी जबकि वन क्षेत्र के प्राकृतिक स्रोतों को जीविका का आधार समझा जाता था और उनके संरक्षण को संस्कृति का

अभिन्न अंग । इस तरह के जीवन पद्धति ने वनवासियों को स्वतंत्र समाज का दर्जा दिया था । इन संस्कृतियों से जुडी हुई कहानियाँ हिमाली क्षेत्रों में मशहूर थीं । उनके स्वतंत्र आर्थिक अवस्था ने धर्म, समाज और संस्कृति, के विभिन्न पक्षों को विकसित होने का मौका दिया । सदियों तक हिमाली क्षेत्र विभिन्न समाजों का घर रहा था । विभिन्न प्रकार के जीवन पद्धति होते हुए भी प्राकृतिक स्रोत जीविका का सामान्य साधन था इसलिए उनका उपयुक्त उपयोग और संरक्षण भी सामान्य था ।

हिमालय जल और वन का भंडार रहा है, इस तरह यह एशिया महादेश के मौसम को नियंत्रित भी करता है । उत्तराखण्ड हिमालय के बीच में है, और भारत के बुहत से भागों को जल प्रदान करता है । यह प्राकृतिक स्रोतों, खनीजों और प्राकृतिक सुंदरता का धनी है यह तीर्थ स्थल के रूप में प्रसिद्ध है, और इसे देवभूमि भी कहा जाता है । कठिन भौगोलिक अवस्था होते हुए भी इस क्षेत्र के लोग उर्वर खेतीहर भूमि, जल और वनों के कारण सहजता से ही जीवन यापन करते थे । इनके जरूरतों का 80 प्रतिशत प्राकृतिक स्रोतों और सांस्कृतिक अवस्था से ही पूरा हो जाता था । दोसौ साल पहले उत्तराखण्ड को अन्न, पशुपालन, जडीबुटियों और दूसरे अन्य वन उत्पादों के लिए धनी समझा जाता था इसीलिए विगत में बहुत से राज परिवारों ने इस पर अपना कब्जा जमाना चाहा । अंत में यह ब्रिटिशों द्वारा हथिया लिया गया । इसके बाद वन स्रोत तेजी से नाश होते गए ।

उन्नीसवीं शताब्दी के शुरूआत से लोगों को प्राकृतिक स्रोत के उपयोग से अलग रखा जाने लगा क्योंकि ब्रिटिश, भूमि और वनों पर अपना अधिकार रखना आरंभ कर चुके थे । 1817 और 1832 के बीच 'कर' के उद्देश्य से वनों का नापी और व्यवस्थापन शुरू हुआ । वनों के औद्योगिकरण के उद्देश्य से उन्हें ठेकेदारों को दिया जाने लगा । इस तरह वनों का नाश आरंभ हुआ । औपचारिक रूप से 1878 में वन विभाग की स्थापना हुई और आगामी 50 वर्षो में अधिक से अधिक वन 'संरक्षित' घोषित हुए, और इस तरह स्थानीय लोगों का जीवन और उनका पारंपरिक वन व्यवस्थापन पद्धति बुरी तरह से प्रभावित हुआ । गाँव के लोगों ने वन की अवहेलना शुरू कर दी जिससे वनों में साधारणत: आग लग जाया करती थी । असंतुष्टि पनपने लगी और लोगों ने कुलीगिरी और जबर्दस्ती मजदूरी, जो कि सरकार द्वारा लादी गयी थी, के विरूद्ध आवाज उठाना शुरू किया ।

लोगों के शिकायतों को कम करने के उद्देश्य से उत्तर प्रदेश सरकार ने 1911 और 1917 के बीच '(वन शिकायत समिति) फोरेष्ट ग्रियवान्स कमिटि' की स्थापना की, जिसके माध्यम से बहुत से सुझाव सामने लाए गए । फलस्वरूप दो प्रकार के वनों का वर्गीकरण हुआ । पहले वर्गके वनों का कोई व्यापारिक मूल्य नहीं था और उसमें लोग रह सकते थे । वर्ग दो के वनों को परिभाषित किया गया और, वह वन विभाग के नियंत्रण में था । साथ ही समिति ने सुझाव दिया कि गाँवों के निकट पाए जाने वाले

वनों को पंचायतों को हस्तांरित कर दिया जाए । 1972 में 'भारतीय वन कानून' पारित किया गया, और कानून ने स्पष्ट रूप से वन पंचायतों और वन अधिकृतों की भूमिकाओं को निश्चित किया । 1931 में वन पंचायत के नियम पारित हुए ।

सम्पूर्ण भारत में स्थानीय शासन के सकारात्मक संस्था के रूप में पंचायत परंपरा जाना जाता था । यह उत्तराखण्ड में भी लोकप्रिय था । लेकिन ब्रिटिश के शासन काल में यह संस्था सरकारोन्मुख हो गई, और स्वतंत्रता के 50 वर्षो के बाद भी यह सरकारोन्मुख ही है । आजकल तीन प्रकार के वन पाए जाते हैं । पंचायत नियंत्रित वन, वन विभाग द्वारा नियंत्रित संरक्षित वन, और कर विभाग द्वारा नियंत्रित, सिविल वन । अभी उत्तराखण्ड का केवल 10 प्रतिशत वन क्षेत्र वन पंचायत नियंत्रित है ।

यह पूर्ण रूप से विदित था कि प्राकृतिक स्रोत के व्यवस्थापन के लिए जो कोई भी कदम ब्रिटिश सरकार द्वारा उठाए गए थे वे या उनकेफायदे के लिए थे न कि स्थानीय जनता के लिए । उनके शासन का सबसे बडा प्रभाव था पारंपरिक संस्थाओं का चरमराना और लोगों की सरकार पर बढ़ती निर्भरता । वही वन जो लोगों के जीविका का सहयोगी था, लोगों के द्वारा ही नष्ट होने लगा । स्वतंत्रता के बाद कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाया गया जो वन और लोगों के बीच संबंध को फिर से कायम कर सके ।

1980 के वन संरक्षण कानून ने केन्द्रीकरण को बढावा दिया, वन विकास को नहीं । 1988 में एक नयी वन नीति की घोषणा की गई जो वन और उन लोगों के बीच संबंध को महत्व देती थी, जो वनों पर निर्भर करते थे । इस नीति ने स्थानीय लोगों के अधिकार संरक्षण पर जोर दिया ।

दो सौ वर्षों से सरकार द्वारा वनों का दुरूपयोग, लोगों का वन स्रोतों से अलग रहना और पारंपरिक संरक्षनात्मक दृष्टिकोण की कमी के कारण काफी क्षति हुई । वनों के ह्रास का अर्थ था सरकार को कर प्राप्ति में कमी और वातावरण का विभिन्न प्रकार से प्रभावित होना, जैसे कि जल स्रोतों का सुखना, भूस्खलन और बाढ में बढोत्तरी आदि । 1970 के दशकों में जब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वातावरणीय समस्याओं पर विचार विमर्श हो रहा था, उसी समय उत्तराखण्ड के सुदूर जिले चमोली में 'दशोली ग्राम स्वराज मण्डल' वातावरण संरक्षण के लिए सक्रिय कार्य में जुटा हुआ था ।

'दशोली ग्राम स्वराज मण्डल' का लक्ष्य था ग्राम स्वशासित सरकार और समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज की उपलब्धि । इस संस्था ने वन संरक्षण और उनके स्रोतों के उपयुक्त उपयोग के लिए कार्य किया था, और लोगों के अधिकार के लिए भी आवाज उठाई थी । साथ ही स्थानीय लोगों की संघटनात्मक शक्ति को बढावा, और महिलाओं को शराब बंदी के लिए आवाज उठाने के लिए उत्साहित करना भी इस मण्डल का कार्य था । लोगों के पारंपरिक अधिकार को बचाने के लिए आवाज उठाने

के कारण इस मण्डल के वन अधिकृतों के साथ विरोध का भी सामना करना पडा । 1970 के भयानक बाढ ने मण्डल को महसूस कराया कि प्राकृतिक प्रकोप से बचने के लिए वनों को संरक्षित करना आवश्यक था ।

'चिपको आंदोलन' 1973 में आरंभ हुआ । यह आंदोलन वृक्षों की रक्षा के लिए और सरकार द्वारा वनों के दुरूपयोग और नीलामी के विरूद्ध चलाया गया था । यह आंदोलन बहुत तेजी से फैला और लोगों नें इसके बारे में अच्छी तरह से जाना । इस आंदोलन ने एक तरफ अहिंसा पर जोर दिया तो, दूसरी ओर वृक्षों के प्रति लोगों के प्यार को भी उजागर किया । मण्डल की महिला सदस्यों ने वनोंको 'माँ' का दर्जा दिया, क्योंकि वन लोगों की देख भाल करता है । इस तथ्य से वाकिफ होते हुए कि वन के विकास से ही लोगों का विकास संभव है, आंदोलन ने छः मांगें सरकार के समक्ष र खीं ।

१. संवेदनशील हिमाली क्षेत्र में वन नीतियों के द्वारा वनों को ऐसा वनाया जाए कि वे मिट्टी और जल के संरक्षक के रूप में रहें, तथा औद्योगिक उद्देश्य से वृक्षों के काट्ने पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया जाए ।
२. वनों का पूर्णरूप से निरीक्षण हो और वन उत्पादों का वे उपभोग करें जो वन के उपर पूर्ण रूप से निर्भर करते है ।
३. उन कार्यक्रमों के तहत, जो गाँवों में रोजगार के अवसर प्रदान करते हैं, बंजर जमीन पर वन लगाए जाएं । समाजिक वन और कृषि वन को प्रोत्साहित किया जाए ।
४. वन से संबंधित कार्योके लिए ठेकेदारी पर पूर्ण रूप से प्रतिबंध लगाया जाए और स्थानीय लोगों को वन संबंधित सभी कार्यो के लिए जिम्मेवारी सौंपी जाए ।
५. वन के क्षेत्रों में वन उत्पादों पर आधारित लघु उद्योग स्थापित हों । कच्चे पदार्थ और टिम्बर वन से प्राप्त किए जाएं और तकनीकि सहयोग की व्यवस्था की जाए ।
६. वृक्षारोपण के कार्यक्रम में उन पौधों को शामिल किया जाए जो लोगों के जरूरतों को पूरा करते हों । न कि उन पौधोंको जो तीव्रता से बढते हो और व्यापारिक उद्देश्य के लिए उपयुक्त हों ।

यदि इन मांगो को ईमान्दारी से लागू किया गया होता तो इनके सकारात्मक परिणाम अवश्य दीखते । लेकिन सरकार ने इनमें से बहुत से कार्यक्रमों (मांगों) को लागू नहीं किया । लेकिन 'चिपको आंदोलन' एक आधारभूत आंदोलन के रूप में उभरा और इसके बाद बहुत से और भी वन आदोलन किए गए । इन आंदोलनों से केवल वन की ही रक्षा नहीं हुई बल्कि कई महत्त्वपूर्ण मुद्दे सामने लाए गए जैसे कि, निर्णय निर्माण प्रक्रिया में महिलाओं का अधिकार, वन अधिकृतों द्वारा ही वन कानून का उल्लंघन, और लोग अपने ईन्धन की जरूरतों को कैसे पूरा करें, यदि विभाग सूखे वृक्षोंको बेच देता है ।

'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' ने गाँव की महिलाओं को एकत्र किया और वानिकी तथा पर्यावरण संरक्षण से संबंधित कैम्पों की आयोजना की । इन कार्यों द्वारा मण्डल, भूस्खलन से जमीनों को बचाना और बंजर जमीनों को हरा-भरा और उर्वर बनाने का, उद्देश्य रखता था । बहुत से सकारात्मक परिणाम देखे गए । स्थायित्व लौट रहा था और जल स्रोत फिर से भरने लगे थे । ये कार्यक्रम सरकार के दूसरे खर्चीले वन विकास परियोजनाओं के अनुपात में अधिक सफल रहे, अंतर इतना ही था कि जहाँ सरकार अपने लक्ष्य को पूरा करने में लगी थी वहीं लोग हृदय, दिमाग और भावनाओं के साथ वन संरक्षण कार्यक्रम में लगे हुए थे ।

सम्पूर्ण विश्व में इसी तरह की अवस्था देखी जा सकती है, जहाँ वन का ह्रास हो रहा है, और वन लोगों के जरूरतों को पूरा करने में दिन-बदिन असमर्थ हो रहा है । इन समस्याओं को सुल्झाने के लिए व्यवहारिक कार्यक्रम लागू नहीं किए गए हैं । इन सबके पीछे एक प्रमुख कारण था, तानाशाही सोच जिसने वन के उपर से लोगों के नियंत्रण को खत्मकर दिया और वन सरकारी जरूरतों के लिए ही रह गए । ब्रिटिश शासन के खत्म होने के बाद भी यह सोच और बनावट खत्म नहीं हो पायी । वास्तव में प्राकृतिक स्रोतों के संदर्भ में सरकार की भूमिका यह होनी चाहिए कि वह लोगों को तकनीकि प्रशिक्षण और योजना दे ताकि लोग इस क्षेत्र में एक बार पुन: दक्ष हो सकें ।

पहले कदम के रूप में नियमों और कानूनों को सहयोगात्मक होना चाहिए तथा कार्य-क्रमों को लोगों के बीच से आरंभ होना चाहिए न कि सरकार द्वारा । यद्यपि भारत में 'संयुक्त वन व्यवस्थापन कार्यक्रम' में लोगों की सहभागिता को महत्त्व दिया गया था फिर भी इसका सफल होना संदेह पूर्ण था क्योंकि लोगों के संस्कृति, मूल्य और परंपराओं के आधार पर यह कार्यक्रम नहीं बना था । सरकार को चाहिए था कि इस भावना पर रोक लगाए कि वनों तथा प्राकृतिक स्रोतों की सुरक्षा का दायित्व सरकार पर ही केवल था, लोगों पर नहीं । जब तक सरकार यह सोचती रहेगी कि लोगों का विकास सरकार की जिम्मेवारी है तब तक लोगों की सहभागिता का सिद्धान्त सरकार के घमंड का परिचायक ही रहेगा ।

प्राकृतिक स्रोतों के संरक्षण और उनसे संबंधित कार्य योजनाओं में लोगों को संलग्न रहना था । ये कार्य योजनाएं लोगों के परंपरा और जरूरतों के अनुसार होना था और सरकार को उनके कार्यक्रमों में सहयोग देना था । इस प्रकार की चेष्टा लोगों की सोई हुई मानसिकता को जगाती और उनके उत्साह और क्षमता को भी बढाती । प्राचीन काल के पंचायत प्रणाली का फिर से अनुसरण करना एक अव्यवहारिक बात थी किन्तु उस प्रणाली के सकारात्मक पक्षों को भी नहीं भुलाना चाहिए था । लक्ष्य यह था कि ग्रामीण समाज को एक आधारभूत इकाई के रूप में लिया जाए । लेकिन न तो पंचायतों को प्राकृतिक स्रोतों के परिचालन का अधिकार दिया गया और न हीं लोग ही ग्राम सभा बैठकों में शामिल होते थे । वे सच्चे अर्थ में प्रतिनिधि संस्था नहीं थे ।

'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' ने यह अनुभव किया कि न तो वन भूमि की कमी थी और न ही लोगों की । जरूरत थी, उन दोनों के बीच तारतम्यता स्थापित करने की लेकिन सरकार और लोगों की मानसिकता ने इसे बढावा नहीं दिया । इस प्रकार के सोच को अचानक ही नहीं बदला जा सकता था । इस तरह एक प्रशासनिक इकाई की आवश्यकता थी जो इन दोनों मानसिकता को एक दिशा में आगे बढ्ने के लिए प्रेरित करे ।

'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' का यह सोचना था कि गाँव प्रबंध प्रणाली, जो दो सौ साल पहले लागू था उसे पुन: व्यहार में लाया जाए । जिससे सभी गाँवो का अपना वन हो और जो उनके द्वारा ही व्यवस्थित हो । चूंकि लोग वन ह्रास से प्रभावित थे, इसलिए यदि उन्हें वन व्यवस्थापन का कार्य सौपा जाता तो वैनिश्चित ही इसे कार्यान्वित करते।

वन पंचायतों को सरकार के हस्तक्षेप से अलग रखना था और वे ही जो गाँवो के भीतर कार्य करते थे, इसके सदस्य हो सकते थे । महिलाओं को विशेष रूप से उत्साहित करना था । तकनीकि सुझाव, स्रोत, एक उपयुक्त वातावरण और जरूरत के हिसाब से लोगों की क्षमता बढाना ही सरकार का कार्य होना था । सरकारी अफसरों को सामान्य जनता द्वारा अपने को बडा ठानना बंद करना था । ग्रामीण स्रोतों की अवस्था को सुधारना था और ग्रामीण संस्थाओं का आपस में विरोध की भावना को भी खत्म करना था । 'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' को लोगों के स्रोतों से संबधित धार णा को विकसित करना था, तभी वे प्राकृतिक स्रोतों के ह्रास से उत्पन्न समस्याओं का सामना कर सकते थे ।

चिपको आंदोलन से प्राप्त शिक्षा

- प्रत्येक समूह और समुदाय की अपनी एक विशेष स्थिति थी । यह संभव थाकि प्रत्येक व्यक्ति भिन्न-भिन्न राजनीतिक सोचों से संबंध रखता हो, फिर भी उनके एक साथ मिलकर कार्य करने से ही समस्याओं का समाधान हो सकता था ।
- 'चिपको आंदोलन' ने वन तथा प्राकृतिक स्रोतों के संरक्षण के लिए तथा गाँवो और स्थानीय लोगों के विकास के लिए कार्य क्रिया । इसने चेतना जागृत की, और महिला मण्डल दलो के माध्यम से महिलाओं के शक्ति संबंर्धन में भी सहयोग दिया ।
- लोगों ने दूसरे स्थानीय जनता में चेतना फैलाया ताकि उन्हें अवसर प्राप्त हो सके और वे इस दिशा में कार्य कर सकें । 'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन में उन लोगों की शक्ति और कला को उपयोग में ला सका,' और यह एक बहुत वडा कदम था ।

- पर्यावरणीय नीतियाँ लोगों के अपने पारंपरिक रीतियों के अनुसार ही होनी थी । 'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' का यह विश्वास था कि वन और पर्यावरण में प्रत्येक व्यक्ति का बरावर हिस्सा था, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इनके सुरक्षा में बरावर भाग लेना चाहिए ।
- लोग पश्चिमी प्रणाली और तकनीकियों पर ज्यादा ही ध्यान दे रहे थे । वे क्यों नहीं अपने ही प्रणालियों के अनुसार ही काम कर सकते थे । पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण कर के वे अपनी सभ्यता का मूल्य ही पीछे छोड्ने जा रहे थे ।
- 'दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल' विश्वस्त था कि चूँकि वन लोगों की सम्पत्ति है, इसलिए तृण-मूल स्तर के लोग इसकी सुरक्षा अच्छी तरह से कर सकते हैं । इसलिए वनों को लोगों के नियंत्रण में दे दिया जाए और सरकार के नियंत्रण से इसे स्वतंत्र किया जाए ।
- स्रोत जनता के ही थे लेकिन लोगों की सहभागिता की भी आवश्यकता थी । सरकार की भूमिका सहयोगी के रूप में थी । सरकारी कार्यक्रम सरकार की सेवा के लिए नहीं बल्कि लोगों की सेवा के लिए होने थे ।

समसामयिक पंचायती राज; लोग आधारित वन व्यवस्थापन - क्या कहीं मिलन बिन्दू है ?

द्वारा - सुभाष मेन्धुपुरकर

इस पत्र के आरंभ में पंचायत का परिचय, एक स्थानीय स्वशासित सरकार के रूप में देते हुए पत्र प्रस्तुत कर्ता ने हिमाचल प्रदेश में वनों के उपर नियंत्रण का इतिहास और लोगों का वनों के साथ अत्यधिक संबंध तथा महिलाओं और सीमान्त लोगों पर इसके प्रभाव को प्रस्तुत किया । हिमाचल प्रदेश के विशेष पंचायती राज की समीक्षा की गई और लोग आधारित वन व्यवस्थापन के लिए ग्राम पंचायतों की विभिन्न इकाईयों में विभाजन की संभाव्यता पर भी विचार किया गया ।

पंचायत प्रणाली का शाब्दिक अर्थ है, पांच बुद्धिमान लोग । स्थानीय स्वशासन के रूप में इस प्रणाली का आरंभ भारतीय उपमहादेश में पहली बार हुआ था । जाति प्रधान और पितृ प्रधान प्रणाली पर आधारित होने के कारण इस स्व-शासन से महिलाओं और गैर आर्य लोगों को अलग ही रखा गया । पंचायत का कार्य था प्राकृतिक स्रोतों का विभाजन और उनसे उठने वाले विवादों का समाधान करना । समाज के द्वारा उन्हें इतनी अधिक मान्यता प्राप्त थी कि उनके निर्णय के विरूद्ध आवाज नहीं उठाई जा सकती थी ।

ब्रिटिश शासन काल में न्याय के लिए लिखित अनुबंधों के आधार पर निर्णय और विरोध समाधान प्रणाली बनायी गई; जो उस समय प्रचलित जातीय व्यवस्था को भी मद्दे नजर रखती थी । जमीनों के अनुबंधों (सबूतों) को रखा जाने लगा और एक अदालत प्रणाली को भी आरंभ किया गया । इस अदालत के समक्ष सभी बराबर थे । ब्रिटिशों ने गाँवों का वर्गीकरण, कर-संकलन के आधार पर किया न कि प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन स्थान के रूप में । यह सोच कर कि लोग उनके अपने प्राकृतिक स्रोतों के माध्यम से ही नियंत्रित किए जा सकते हैं, गैर नीजी जमीन, वन और जल स्रोत सरकार के सम्पत्ति हो गए । ग्राम - स्तरीय शासन तथा वैधता के लिए पंचायतों को सहयोग मिलना बंद हो गया । लेकिन उन्हें सामाजिक मान्यता थी ।

स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण के समय पंचायती राज प्रणाली पर काफी विचार विमर्श हुए । जाति-प्रथा के प्रति सचेत और आर्यो द्वारा दबाए हुए वर्गो ने इस प्रणाली को संबैधानिक मान्यता देने का विरोध किया । गाँवों की परिभाषा के बारे में विचार नहीं किया गया, जिससे ब्रिटिशों द्वारा बनाए हुए परिभाषा के दायरे में ही 'गाँव' परिभाषित होता रहा तथा उसी तरह सामान्य प्राकृतिक स्रोतों का स्वामित्व भीं सरकार के पास ही रहा । स्वतंत्रता के कुछ ही दिनों बाद भारत सरकार ने पंचायत राज प्रणाली के अध्ययन और सुझावों के लिए 'बलवंत राज मेहता समिति' का गठन किया । सुझावो के अनुसार गाँव, ब्लाँक और जिला स्तर पर एक दूसरे से जुडे हुए निर्वाचित इकाईयों को स्थापित करना था । साथ ही इन इकाईयों को योजना निर्माण और विकास के कार्यो के लिए जिम्मेवारी देना और उन्हें इन कार्यों को करने तथा सहयोग देने वाले उपयुक्त स्रोतों की व्यवस्था करना भी था । कुछ विद्वानों ने मनोयन के आधार पर पार्टी विहीन पंचायत बनाने का सुझाव दिया, तो कुछ विद्वानों ने पार्टी आधारित प्रजातांत्रिक पद्धति पर निर्वाचित इकाई बनाने का सुझाव दिया ।

समिति के सुझाव अनुसार केन्द्र की शक्ति को पंचायत में निक्षेपण करना था । जिन संस्थाओं में शक्ति निक्षेपण होना था, वे 'पंचायत समिति' के नाम से जाने जाते थे तथा उनकी वनावट प्रजातांत्रिक पद्धति पर होनी थी, और निम्नतम संभाव्य स्तर पर होते हुए भी विकास के लिए आवश्यक पर्याप्त स्रोत उनके अधीन थे । 1977 में 'अशोक मेहता समिति' का गठन पंचायत राज प्रणाली के कार्यों का मूल्यांकन करने के लिए हुआ । इस समिति नें पंचायत राज प्रणाली में समानता और लिङ्ग-विषयक मुद्दे जैसे कुछ नए आधारों को जोडा । लेकिन किसी भी समितिने न तो गाँव के परिभाषा को निश्चित किया, और न ही प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन और जीविका के बीच ही कोई संबंध स्थापित किया ।

कुछ राज्यों ने इन सुझावों को माना और पंचायत राज संस्थाओं की स्थापना की । कुछ समय के बाद भारतमें ये संस्थाएं 73 वें संवैधानिक संशोधन के लिए मोडेल के रूप में उभरीं । इस तरह, संशोधन भी 'गाँवों' को परिभाषित करने में असफल रहा ।

स्व-व्यवस्थित इकाई और स्व-शासित इकाई के बीच का अन्तर भी स्पष्ट नहीं हो पाया । लिङ्ग और समानता के विभेद को कम करने के उद्देश्य से सीटों का आरक्षण भी किया गया लेकिन शक्ति निक्षेपण की प्रणाली अस्पष्ट थी, तथा भ्रष्टाचार के लिए भी काफी गुंजाइश थी । यह वही संदर्भ था जिसमें कि हिमाचल प्रदेश पंचायती राज कानून 1994 का परिक्षण होना था ।

स्वतंत्रता के बाद हिमाचल प्रदेश ने भारत के दूसरे भागों की तरह अधिकतर वन भूमियों पर अपना नियंत्रण रखा और वनों से प्राप्त करों को विकास कार्यों तथा अन्य आधारभूत सेवाओं में उपभोग किया । निम्न वर्गो के मांगो को पूरा करने के उद्देश्य से सरकार ने हिमाचल प्रदेश ग्रामीण सामान्य भूमि कानून की घोषणा की और 1975-77 के बीच सामान्य भूमि के एक बहुत बडे हिस्से को लोगों में बांटा । इस तरह उच्च वर्गीय लोगों के पास के जरूरत से अधिक भूमि को लेने के बदले समुदाय के धरोहर को नीजी धरोहर में बदल दिया ।

हिमाचल प्रदेश में भी वनस्रोतों के साथ लोगों का घना संबंध था । राज्य ने स्रोतों पर लोगोंके विभिन्न अधिकारों को समझा और कुछ हद तक उन अधिकारों की परिपूर्ति भी की गई । 1948 से अधिकार प्राप्त लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए टिम्बर का उपयोग किया गया । यद्यपि टिम्बर से प्राप्त लाभ का उपभोग औद्योगिक उद्देश्य के लिए लगाए हुए टिम्बर के लाभ से कहीं अधिक था, लेकिन जिन लोगों को यह लाभ प्राप्त होता था, वे पहले से ही धनी थे और दैनिक क्रियाकलापों के लिए वन पर उनकी निर्भरता भी काफी कम थी ।

टिम्बर के साथ-साथ चारे, ईन्धन और औषधि वाले जडीबूटियों के लिए, लोग वन पर निर्भर करते थे । हिमाचल प्रदेश में वन विभाग द्वारा किए गए वृक्षारोपण निरीक्षण से यह मालूम हुआ कि ज्यादातर वृक्षारोपण में टिम्बर की ही प्रधानता थी, न कि दैनिक जरूरतों को पूरा करने वाले पौधों की । इससे लोगों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पडा क्योंकि वनों में टिम्बर की लकडियों के अधिक हो जाने से घास और झाडियाँ कम उगने लगी । इस व्यवस्था से जो सबसे ज्यादा प्रभावित हुई वे थीं महिलाएं । वनों में परंपरागत रूप से सुदूर पहाडियों से वे ही चारे और ईन्धन की लकडियो को इकठ्ठा करने आती थी और साथ ही वे गरीब लोग भी जो जडी-बुटी वाले पौधो को बेच कर कुछ आय आर्जन कर लेते थे । शुरूआत के 80 के दशकों में जब विश्व बैंक प्रोजेक्ट के तहत कुछ गाँव की सामान्य भूमियों को चारागाह के रूप में प्रयोग करने से रोक दिया गया था और उन भूमियों में टिम्बर की लकडियों के लिए वृक्षारोपण करने के बाद उसमें तार के बाड लगाए गए थे, तो कुछ जिलों के लोगों ने इसके विरूद्ध आवाज उठायी । फलस्वरूप बडे पत्रों बाले वृक्षों का रोपण किया गया ।

दाता एजेन्सियों ने जब परियोजना द्वारा प्रायोजित गाँव विकास समितियों में 'महिला मण्डल' के महिलाओं को शामिल करने को लिए दबाव डाला तो विभाग ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, क्योंकि गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को यदि इन समितियों में शामिल किया जाता तो उन्हें इच्छा अनुसार कार्य करने के लिए कहा नहीं जा सकता था, इसके विपरीत महिलाओं पर दबाव डालना अधिक आसान था । हिमाचल प्रदेश में महिला मण्डलों की विस्तृत बनावट और संस्थागत रूप होने के बावजूद, इनमे से बहुत से महिला मण्डल दब-दबे बाले परिवारों की प्रमुखता में फलफूल रहे थे, जिसके कारण इनमे सरकारके साथ विवाद करने की शक्ति कम होती जा रही थी ।

दूसरे कारण भी हिमाचल प्रदेश के वनों को प्रभावित करते थे । राज्य का दर्जा प्राप्त करने के बाद सरकार ने विकास और कल्याण मूलक कार्यक्रमों को करना आरंभ किया । इन कार्यक्रमों के कार्यान्वयन के लिए बहुत से कर्मचारियों की आवश्यकता पडी । फलस्वरूप 1988 तक हरेक सोलहवाँ बालिग व्यक्ति इन कार्यो में शामिल किया गया । नकद आय और पुरूषों का शहरोन्मुख होने के कारण कृषि पर निर्भरता कम होती गई और धीरे धीरे यह धारणा बनती गई कि वन टिम्बर के लकडी के उत्पाद के लिए ही है । उसी तरह फुलवारी खेती जो कि तथाकथित बेकार जमीनों पर किया जाने लगा जिससे धीरे धीरे चारे और ईन्धन की कमी होने लगी ।

समाज के विभिन्न वर्गो नें बदले हुए जीविका के तरीकों को भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा । जीविका का आधार जो स्थानीय स्रोतों पर निर्भर करता था वह अब एक नये क्रम में स्थापित होने लगा था । तीन प्रकार के सामाजिक वर्ग देखे जाने लगे - वे लोग जो अभी भी अपनी आजीविका के लिए प्राकृतिक स्रोतों पर निर्भर करते थे: वे लोग जिनके आजीविका का आधार राज्य सरकार में नौकरी थी, या व्यापार करते थे और, वे लोग जो प्राकृतिक स्रोतों पर भी निर्भर नहीं करते थे और न ही राज्य सरकार में उनकी पहुँच थी ।

हिमाचल प्रदेश के पंचायती राज प्रणाली के तहत 1968 के वास्तविक कानून ने इन इकाईयों को स्पष्ट रूप से विकास की योजनाओं और कुछ सिविल सेवाओं को परि चालित करने वाले के रूप में प्रस्तुत किया था । 1994 कानून में पंचायती राज संस्थाओं का, स्थानीय शासन और विकास कार्यों में संलग्नता को, इंगित किया था । प्रश्न यह उठा कि क्या इन पंचायती राज संस्थाओं को वास्तविक रूप में स्व-शासित इकाई के रूप में बनाया जाए ? राज्य ने पूर्ण रूप से ग्राम सभा की बनावट को नियंत्रित किया था । ग्राम सभा में साधारणत: आठ से दस किलोमीटर में फैले हुए पाँच या छ: ग्रामों को शामिल किया जाता था । ग्राम सभा के बनावट में प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखा जाता था, लोगों की सुविधाको नहीं । साथ ही यह प्रश्न भी उठता था कि क्या ऐसे प्राशासनिक इकाई कार्यकारी इकाई बन सकते थे ? क्यों कि हिमाचल प्रदेश के गाँव भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक राजनीतिक समूहों से भरा है

और फिर लिङ्ग समानता और सामाजिक मूल्यों के सिद्धान्त भी योजनाओं और विकास के कार्यो में स्पष्ट नहीं थे । इसी तरह प्रशासनिक नियम जैसे की 'कोरम' परिपूर्ति संबंधि औपचारिकता आदि, जैसे किसी निर्णय को कुछ ही सहभागियों के उपस्थिति में अध्यक्ष द्वारा पारित हो जाया करता था बनिस्पत इसके कि असंतुष्ट सदस्यों के लिए फिर से बैठक बुला कर उस निर्णय पर पुनर्विचार किया जाए ।

निर्वाचित प्रतिनिधियों और लोगों के बीच एक बढी खाई मौजूद थी और निर्धन लोगों के प्रतिनिधियों पर उनके लिए कल्याणकारी कार्य करने के लिए दबाव नहीं डाल पाते थे । भ्रष्टाचार भी काफी फैला हुआ था । पंचायत द्वारा योजित विकास के कार्यक्रमों में भाग लेने में लोग असमर्थ थे । विभिन्न ग्राम पंचायत में नियुक्त किए गए पंचायत सचिव (सेक्रेटरी) लोगोंको सहुलियत देने के बदले उन पर अफसरी दिखाते थे । कनिष्ठ अभियंता (जुनियर इन्जीनियर) और प्रशासनिक कर्मचारी, एक साथ मिलकर गाँव के स्तर पर आंरभ किए जा सकने वाले विकास के कार्यक्रमों का अवरोध करते थे । हिमाचल प्रदेश में पंचायती राज कानून के भावार्थ के अनुसार पंचायतों को राज्य सर कार के एजेन्ट के रूप में देखा गया था । यद्यपि पंचायतोंको कार्य संचालन के लिए स्वतंत्रता दी गई थी फिर भी पंचायतों को किसी भी कार्य को शुरू करने से पहले अनुमति की आवश्यकता पडती थी । यद्यपि पंचायत के कार्यो के देखने समझने के लिए समितियों के निर्माण के लिए, आवश्यक अवसर प्रदान किए गए थे लेकिन इन समितियों का कभी निर्माण नहीं हुआ ।

एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठा कि क्या पंचायत राज संस्थाएं सामान्य स्रोतों के व्यवस्थापन में लोगों को लाभ होने वाले कार्यो को सम्पादित करने की भूमिका निभा सकती हैं । कानून के अनुसार सरकार ने ग्राम पंचायतों को वन, बेकार जमीनों, चारागाहों और ग्रामीण क्षेत्रों के अनधिकृत जमीनों के व्यवस्थापन के लिए दिया, और कोष भी प्रदान करने के लिए अनुमति दी । यदि इन योजनाओं का कार्यान्वयन होता तो पंचायत वन और दूसरे स्रोतों का प्रबंध भी करते तथा गरीबी और खास कर महिलाओं के दैनिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति भी करते लेकिन इन योजनाओं के कार्यान्वयन के सहयोग के लिए नियम नहीं पास किए गए ।

इसी तरह, यद्यपि वन विभाग ग्राम पंचायतों के कार्यो और उसके शक्ति से अवगत थे फिर भी इन कार्यो के समीक्षा ने और भी अधिक शंका-उपशंका को बढावा दिया । मुख्य मुद्दा यह था कि किस प्रकार वन विभाग पंचायतों को जिम्मेवार पूर्ण बनाए । ग्राम पंचायत ग्राम सभा की ओर जिम्मेवार हों और ऐसी पद्धति अपनायी जाए कि सामान्य स्रोत व्यवस्थापन के संबध में लोक प्रतिनिधियों के बीच जिम्मेवारी की भावना आए । यदि ग्राम सभा अच्छी तरह कार्यशील होता तो ग्राम पंचायत प्रभावपूर्ण रूप से कार्य करता क्योकि ग्राम सभाओं से ही ग्राम पंचायत की बनावट होती है । लेकिन 1994 हिमाचल प्रदेश पंचायती राज कानून के अनुसार ग्राम सभा बुहत से कार्यो को

करने के लिए स्वतंत्र नहीं थी, इसके निर्णयों को भी बहुत महत्त्व नहीं दिया जाता था । साथ ही न तो महिलाएं और न हीं सीमान्त लोग ही इन निर्णयों में भाग लेते थे । इन संस्थाओं को कार्यशील बनाने के लिए यह आवश्यक था कि ग्राम सभा को और भी अधिक व्यवस्थित बनाया जाए और ऐसा वातावरण तैयार किया जाए जो लोगों को इसमें भाग लेने के लिए उत्साहित करे तथा लिङ्ग और वर्ग के आधार पर किए गए भेदभाव भी न हों ।

सामान्य जरूरतों को पूरा करने वाली योजनाएं जो कि गाँव के प्रत्येक सामाजिक राजनीतिक समूह द्वारा बनाए गई हों, ऐसी योजनाओं को बडे समूह या सामान्य जरूरतों से संबंध रखने वाले समूह या इनके प्रतिनिधियों के समक्ष रखने से पहले उन पर विचार कर लेना आवश्यक था । इन ग्राम सभाओं को गाँव के सामान्य भूमि या रेखांकित असंरक्षित वन को पुनरूत्पादन के लिए कब्जे में करने के लिए कहा जा सकता था ।

इस तरह अपेक्षाकृत बडा ग्राम पंचायत, ग्राम सभाओं को शक्ति प्रदान कर सकता था और ग्राम सभा के कार्यो में विश्वसनीयता आ सकती थी । उनके तत्कालीन स्रोत इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं थे लेकिन लोगों को इसके लिए इस्तमाल किया जा सकता था । यह प्रभावकारी ही नहीं होता बल्कि लोगों की सहभागिता भी बढ्ती और पंचायत के कार्यो में पारदर्शिता भी आती । पंचायतों और दूसरे स्थानीय संस्थाएं जैसे कि महिला मण्डलों के बीच संस्थागत व्यवस्थापन को भी विकसित करना था । इसे कार्यरूप में बदलने के लिए पंचायत के नेताओं के बीच दृष्टिकोणों का आदन-प्रदान आवश्यक था। हिमाचल प्रदेश में स्थानीय स्तर के समूहों और ग्राम पंचायतों के बीच निरंतर अर्न्तक्रिया और बात-चीत के लिए कार्य रूप रेखा विकसित करना था ।

जन चेतना वृद्धि : नेपाल में सामुदायिक वन व्यवस्थापन में स्वायत्त संस्थाओं की भूमिका

द्वारा: हरि प्रसाद न्यौपाने ।

यद्यपि नेपाल की जनसंखया और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए वन स्रोत बहुत ही महत्वपूर्ण थे, लेकिन पिछले कुछ वर्षो से वन से सरकार को प्राप्त होने वाले कर घटते जा रहे थे । वन स्रोतों की व्यवस्था अच्छी तरह से नहीं हो रही थी । सामुदायिक वानिकी को बढावा देने वाला '1992 वन कानून' अच्छी तरह से लागू होना था ताकि वन का संरक्षण और सुरक्षा हो सके । सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह बनाए जाने थे, और पहाडों में खास कर तराई क्षेत्र में इन्हें अधिक कार्यशील बनाना था । सामुदायिक क्षेत्रों से बाहर के वनों के व्यवस्थापन में स्थानीय लोगों को शामिल किया जा सके जो सहभागिता के पद्धति पर आधारित होता ।

नेपाल के वन कानून के ऐतिहासिक सर्वेक्षण द्वारा यह विदित हुआ कि 1989 के वन विकास वृहत् योजना से पहले तक वन व्यवस्थापन सरकार के जिम्मे ही था । इस वृहत योजना के द्वारा ही वन व्यवस्थापन में सामुदायिक सहभागिता के महत्व को पहचाना गया । लेकिन 1993 के वन-कानून में वन व्यवस्थापन में सामुदायिक सहभागिता को निश्चित किया गया । सामुदायिक वानिकी आवधारण ने स्थानीय लोगों को एक नई आशा प्रदान की । 1996 तक 5,300 उपभोक्ता समूह बनाए गये, और सामुदायिक वन क्षेत्र उनके हवाले किए गए । वन उपभोक्ता समूहोंका बनना और वन क्षेत्रों के हस्तांतरण से नेपाल में वन की अवस्था में सुधार आया । सामुदायिक वानिकी ने दूसरे और भी नीतियोंको बढावा देने में मदद किया उदाहरण स्वरूप लोगों के आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, वन स्रोतों का स्थायी उपयोग, निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता, लाभांश विभाजन तथा दूसरे कई सामाजिक आर्थिक विकास आदि । दूसरी तरफ अधिकारियों को वन व्यवस्थापन में स्थानीय समर्थता के प्रति सचेत भी रहना था । स्थानीय लोगों को इसके बारे में जानना था और सामुदायिक वानिकी, वन उपभोक्ता समूह निर्माण, कार्य योजना तैयारी, क्रियाशील सहभागिता, और कार्यक्रम परिचालन आदि में प्रशिक्षित होना था, नहीं तो सामुदायिक वानिकी, जन सहभागिता और लाभांश विभाजन आदि की अवधारणा कानून की ही बात वन कर रह जाती । नेपाल में सामुदायिक वन के सफलता में उपभोक्ता समूहों की कार्यक्षमता रीढ की हड्डी थी । वन संबंधित मुद्दों के कानूनी पक्षों से लोगों को अवगत कराने में सरकारी अफसरों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी । इन अफसरों ने उपभोक्ता समूहों के कार्यकलापों का मार्ग दर्शन किया और यथा संभव सुविधाएं प्रदान की । साथ ही इन्होंने उपभोक्ता समूहों के मार्ग दर्शन के क्रम में संस्थागत समन्वयता, विरोध समन, और कार्य योजनाओं में भी अग्रणी भूमिका निभायी । इस तरह सामुदायिक वानिकी की सफलता शुरू हुई ।

जब वन स्रोतों का उपयोग औद्योगिक कार्यो में शुरू हुआ तभी वातावरण से संबंधित मुद्दों पर ध्यान देना जरूरी था, क्योंकि वन विकास गुरूयोजना और वन कानून में इन मुद्दों पर स्पष्ट रूप से व्याख्या की गई है । वन स्रोतों के उत्पादन मूलक उपयोग के लिए उपभोक्ता काफी इच्छुक थे । वन आधारित उद्योगों का विरोध नहीं था लेकिन आधारभूत जरूरतों को पूरा करने के लिए वन स्रोतों से उन्हें वंचित किया जाना भी मंजुर नहीं था । साथ ही वे चाहते थे कि उद्योगों में वनों का दुरूपयोग न हो । 'सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह संघ' की स्थापना 1995 में हुई । बहुत से वन उपभोक्ता समूहों के संयुक्त रूप से किए गए कार्यशाला गोष्ठियों का परिणाम यह संघ था । इसकी पहली सभा काठमाण्डू में अप्रील 1996 में की गई । इस सभा में 40 जिलों के 178 प्रतिनिधियों ने भाग लिया और इस सभा का उद्घाटन वन तथा भू-संरक्षण मंत्री ने किया । इस सभा में राष्ट्रीय कार्यकारी समिति का गठन किया गया । यह समिति नेपाल के प्रत्येक विकास क्षेत्र के एक महिला और एक पुरूष के प्रतिनिधित्व से प्रारंभ हुआ ।

संघ का मुख्य उद्देश्य था उपभोक्ता समूहों के बीच एकता को बढाना और उनके तकनीकि ज्ञान को बढाना ताकि सरकारी वन नीति कानून और नियमों का परिचालन

सही ढंग से हो सकें । स्थानीय लोग वन तथा वातावरण के संरक्षक थे, इसीलिए वन स्रोतों पर नियंत्रण के अधिकार की प्राथमिकता उन्हें ही मिलनी चाहिए था । वानिकी के प्रत्येक पक्ष पर उनका प्रवेश होना था । हिमाली क्षेत्र में कानून आधारित सामुदायिक वानिकी को बढावा मिलना आवश्यक था । सरकारी प्रयासों द्वारा विभिन्न कार्यक्रम शुरू किए जाने थे ताकि ग्रामीण जनता प्राकृतिक स्रोतों के उपयोग के लिए सचेत और अधिकार प्राप्त हो सके । साथ ही लोगों में स्रोतों के प्रति अपना और सहयोगात्मक दृष्टिकोण पनप सके । संघ ने इन मुद्दों को कार्यरूप में परिवर्तित करने में अपनी प्रतिबद्धता दिखाई और इसके लिए 'नेपाल पर्यावरण पत्रकार संघ' और विदेशी दातृ के सहयोग से वृहत पैमाने पर रेडियो प्रचार कार्यक्रम की आयोजना करता आ रहा था ।

तराई क्षेत्र के बारा जिले में यह अफवाह फैली थी कि करीब 32,430 हेक्टर वन क्षेत्र फिनलैण्ड के एक कम्पनी को दिया जाएगा । फिनलैंण्ड के इस कम्पनी के सहयोगी तीन नेपाली कम्पनी भी होंगे ऐसी सोच उभरी कि अगर ऐसा नहीं होगा तो हो सकता है कि वन विकास कार्यक्रम बहुत संभव है कि बंद कर दिया जाएगा । यद्यपि यह एक जनमुद्दा था, फिर इससे लोगों को वंचित रखा गया । सरकार चुप थी । संघ ने इस मुद्दे में अपनी सचेतता दिखाई । जबकि उस क्षेत्र (तराई) के उपभोक्ता समूह वन क्षेत्र के व्यवस्थापन में सक्षम थे फिर भी उस क्षेत्र के वन को विदेशी कम्पनी के हवाले क्यों किया जाना चाहिए था । इस तरह के सरकारी कदम नेपाल के कानून का मजाक नहीं उडाते ? यह आवश्यक था कि इस तरह के गलत सोच का विरोध हो लेकिन सरकार फिर भी मौन रही । साथ ही बारा के बहुत से निवासी इस मुद्दे से वाकिफ नहीं थे । श्री न्यौपाने ने इस प्रश्न को उठाने की इच्छा जाहिर की कि क्या लोगों को ऐसे कदमो का साथ देना चाहिए या फिर उन्हें एक जुट होकर इनका विरोध करना चहिए ।

1997 में संसद के जाडे के सत्र में वन मंचालय द्वारा वन-कानून के पुनार्वलोकन से संबंधित मुद्दे उठाए गए । यह प्रस्ताव वन उपभोक्ता समूह के इच्छा के विरूद्ध हो सकता था । ऐसे मुद्दों को वन स्रोत व्यवस्थापन के विभिन्न इकाइ यों के साथ सलाह मशविरा करने के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिएं था । सरकार का कर्तव्य इतना ही नहीं था कि वनों को उपभोक्ता समूह के हवाले किया जाए बल्कि यह भी था कि यह हस्तांतरण स्थायी हो । हस्तांतरण से पहले कुछ प्रारूप तैयार किए जाने थे और यह वही विन्दु था जहाँ संघ मदद के लिए आगे आ सकता था । कुछ समस्याएं सर्वे और भूमि प्रशासन द्वारा और भी अधिक बदतर बना दिया गया था, उदाहरण स्वरूप जब एक वन समुदायको हस्तांतरित किया जाता था तो वह किसी व्यक्ति विशेष के नाम में होता था । इस तरह की परस्पर विरोधी अवस्थाएं स्थानीय नेताओं और प्रतिनिधियोंद्वारा सुल्झाया जाना चाहिए था । नेपाल में स्थानीय लोगों और किसानों के सुविधा के लिए सामुदायिक वानिकी से संबंधित प्रतिबद्धताओं को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उपभोक्ता समूहों, गाँव विकास समिति, जिला विकास समिति, सरकारी एजेन्सियों और संघ के बीच परस्पर समन्वय और परस्पर निर्भरता की आवश्यकता थी ।

मुख्य मुद्दे

सहभागियोंद्वारा निम्न लिखित मुद्दे उठाए गए

- स्थानीय इकाईयों और सामुदायिक वन उपभोक्ता समूहों को और अधिक अधिकार सम्पन्न करना चाहिए ताकि वे दूसरी इकाईयों से समन्वय बढा सकें ।
- राज नेता जब गाँवो में वोट मांगने जाते हैं तो वे जनता से सैकडों वादे करते हैं, लेकिन जीतने के बाद उन वादो में से मुश्किल से एक भी पूरा किया जाता है । लोगों को इतना सचेत बनाया जाना चाहिए ताकि वे उम्मीदवारों को पहचान सकें और उसी के अनुसार उनका चयन कर सकें । कुछ लोग पैसे के बदौलत चुनाव जीतते हैं, जो ठीक नहीं है ।
- ठेक्देदार भी भ्रष्टाचारी ही हैं । यदि गाँव विकास के लिए एक लाख रूपया दिया जाता है, तो ठेक्देदार उसमें से 50 प्रतिशत डकार जाते हैं । ऐसे अभ्यासों को रोकने के लिए कुछ किया जाना चाहिए । कडे नियम और कानून बनाए जाने चाहिए ।
- महिलाओंको आगे लाना चाहिए और उन्हें अपने अधिकारों से अवगत कराना चाहिए ।
- पर्वतीय क्षेत्रों में वन उत्पादों के निलामी पर रोक लगना चाहिए ।
- घूस-खोरी और सरकारी भ्रष्टाचार बंद होना चाहिए ।
- स्थानीय इकाईयों को अधिकार और जिम्मेवारी दी जानी चाहिए ।
- वन संबंधी इकाईयों का गलत उपयोग रूकना चाहिए ।
- भ्रष्टाचार दिन-प्रतिदिन बढता रहा है, विभिन्न कानूनों की बात होती है, लेकिन यदि कानून का उचित प्रयोग नहीं होता है, तो ऐसे कानून का क्या अर्थ है । गाँवो में वन, वन अधिकारियों के नियंत्रण में होते हैं और अधिकारी भ्रष्ट हैं । यदि एक वृक्ष के काट्ने की अनुमति होती है, तो चार वृक्ष काटे जाते हैं ।
- वनों को लोगों को हस्तांतरित कर दिया जाना चाहिए तथा नियम बनाने के लिए अधिकार दिया जाना चाहिए । लोगोंको अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का मौका दिया जाना चाहिए । ग्राम पंचायत इसमें काफी मदद कर सकता है । जिन गाँवों मे सचेतता अभी है वे गाँव वन संरक्षण की ओर प्रयत्नशील हैं, लेकिन जब वे लोग वन में जाते है तो उन्हे वन अधिकारीयों से अनुमति लेनी पडती है । लोगों ने वन के लिए बहुत कुछ किया है इसलिए लगता है कि उन्हे कुछ अधिकार भी दिया जाना चाहिए ।
- निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में लोगों के विचारों को महत्त्व दिया जाना चाहिए । बाहरी लोगों की अपेक्षा ग्राम पंचायत गाँव के विकास संबंधी जरूरतों को अधिक समझता है । पर्वतीय क्षेत्रो में प्राकृतिक स्रोतों के व्यवस्थापन के लिए सरकार को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए ।
- विकेन्द्रीकरण प्रक्रिया के कार्यान्वयन के लिए स्थानीय इकाईयों और सामुदायिक वानिकी के बीच संबंध होना चाहिए ।

समूह दो

सामुदायिक वन व्यवस्थापन और समाधान में स्थानीय संस्थाओं और वन उपभोक्ता समूहों के बीच विरोध

द्वारा दिलराज खनाल

प्रशासन में समान सहभागिताका अर्थ है, प्रत्येक नागरिक को सहभागी होने का समान अवसर । विकेन्द्रीकरण प्रजातांत्रिक प्रणाली की रीढ है । यह एक ऐसी श्रृंखला है जो स्थानीय प्रशासन को केन्द्रीय प्रशासन से जोडती है । विकेन्द्रीकरण प्रणाली स्थानीय शासन को स्वशासन की क्षमता प्रदान करती है, आर्थिक विकास में सहयोग करती है, सामाजिक विकास में सहायक होती है, सांस्कृतिक विकास में सहयोग देती है तथा साथ ही समग्र कोशिशों के माध्यम से लोगों के जीवन स्तर को उकासती है ।

यह पत्र प्राकृतिक तथा वन स्रोतों के प्रजातांत्रिक पद्धति द्वारा सार्वजनिक स्वामित्व से संबंधित था । जब तक सार्वजनिक और निरंतर स्वमित्व को कानून के अन्तर्गत नहीं किया जाता, तब तक प्राकृतिक स्रोतों को भविष्य के सन्तति के लिए संरक्षित नहीं किया जा सकता था ।

कुछ हद तक वन व्यवस्थापन में स्थानीय स्वशासन और समुदाय सहभागी प्रक्रिया में स्थानीय निर्वाचित इकाइयों के अधिकार और जिम्मेवारियों से संबंधित कानूनी संशोधन किए गए । स्थानीय सामुदायिक वन व्यवस्थापन में सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह एक महत्वपूर्ण भूमिका खेलता आ रहा था । 'लीज समूह' और 'धार्मिक वन व्यवस्थापन' समूहों ने भी एक प्रभावकारी भूमिका निभायी ।

इन उपलब्धियों के बावजूद नेपाल में वन स्रोत एक संवेदनशील मुद्दा बना रहा, और इस मुददे को राजनीतिक फेर बदल के समय गलत तरीके से इस्तेमाल किया गया । इसी तरह वर्तमान कानूनी ढाँचा और विनियमों ने स्थानीय, निर्वाचित इकाईयों और सामुदायिक वन उपभोक्ता समूहों के बीच संभाव्य विरोध को बढावा दिया । नियम विनियमों को लागू करने की प्रक्रिया में पारदर्शिता और स्पष्टता की कमी थी । साथ ही नेपाल में आगामी स्थानीय स्वशासन बील और वन कानून का पुनरावलोकन विरोधको उत्पन्न कर सकता था । समय पर ही सुधारोन्मुख मापदण्ड को पहचाना जाना चाहिए, और इन विरोधों को कम करने तथा स्थानीय संस्थाओं और सामुदायिक वन उपभोक्ता समूहों के बीच संबंधो को सुदृढ करने में प्रयोग होना चाहिए ।

नेपाल में विगत के केन्द्रीय शासन के परंपरा के कारण पूर्ण स्थापित पारंपरिक स्थानीय स्वशासित संस्थाओं का अभाव रहा है । समुदाय आधारित संस्थाए जो प्राचीन काल में सफलता से काम करती थी, वे संस्थाए प्राय: राणाकाल में खतम कर दी गईं और

1950 ई. तक करीब-करीब सभी वन नीजी घोषित कर दिए गए । बाद में वन-स्रोतों के व्यवस्थापन के लिए स्थानीय इकाईयों को जिम्मेवारी देने की कोशिशें काफी कमजोर थी, और ज्यादातर असफल रहीं । वन व्यवस्थापन में समुदाय सहभागिता के कमी के कारण वृहत पैमाने पर वन क्षेत्र अधिग्रहण और वन का नाश होना आरंभ हुआ । 1988 में वन क्षेत्र गुरूयोजना प्रस्तुत किया गया । इस गुरू योजना के द्वारा वन उपभोक्ता समूहों को सामुदायिक वनों का स्वाभित्व प्रदान किया गया जिससे सामुदायिक वानिकी को स्थायी विकास के अवसर प्राप्त हुए । 1993 का वन कानून और 1995 के वन नियमों ने सामुदायिक वानिकी और उपभोक्ता समूह समिति की अवधारणा को कानूनी तौर पर स्थापित किया । सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह वे इकाई थे जिन्होने समुदाय के फायदे के लिए वनों का व्यवस्थापन किया । एक बार पंजीकृत हो जाने के बाद उपभोक्ता समूह एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में काम कर सकता था । यह समूह प्रशासनिक प्रणाली के तहत कानूनी अधिकार और जिम्मेवारीयों की क्षमता से परिपूर्ण होकर काम कर सकता था । उसी तरह दूसरे कानूनो ने स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं, गाँव विकास समितियों, नगरपालिकाओं, और जिला विकास समितियो को प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन के लिए कानूनी अधिकार और जिम्मेवारियाँ दी । इस कारण सामुदायिक वन व्यवस्थापन में विरोध उत्पन्न होना आरंभ हुआ । इन विरोधों के स्वभाव की समीक्षा के लिए दो शोध अध्ययन प्रस्तुत किए गए । इस अध्ययन ने यह दिखाया कि स्थानीय प्राकृतिक स्रोतों और वनों पर दोहरे स्वामित्व ने इन विरोधों को जन्म दिया । उपभोक्ता समूहों ने गाँव विकास समितियों के प्राकृतिक स्रोतों पर अधिकार को नकारा । दूसरा विरोध तब उत्पन्न हुआ जब परियोजनाओं के परिचालन के सिलसिले में गैर-सरकारी संस्थाओं का गाँव विकास समितियों के साथ समन्वय के लिए प्रावधान प्रदान किए गए । यह अस्पष्ट था कि किस प्रकार की गैर-सरकारी संस्थाओं को इस नियम का पालन करना होगा क्योंकि सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह, जिला वन कार्यालय के साथ पंजीकृत थे और 'जल उपभोक्ता समूह' सिंचाई विभाग के साथ पंजीकृत थे । अनिश्चितता के कारण यह विरोध आरंभ हुआ कि क्या ये समूह और सामुदायिक संस्थाए स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं या स्थानीय प्रशासनिक इकाईयों के मातहत में काम करेंगी । प्राकृतिक स्रोत उपभोग और व्यवस्थापन के संबंध में विरोध उत्पन्न हुआ और ये मुख्य रूप से वन सिंचाई और खदानों के आय आर्जन संबंधि क्रियाकलापों से संबंधित थे ।

संसद में स्थानीय स्वशासन बील स्थगित अवस्था में है, जिसके अनुसार स्थानीय इकाईयों को उचित स्वायत्तता दी जानी थी और इससे इन्कार नहीं किया जा सकता था कि दूसरे समुदाय आधारित संस्थाओं के अधिकार को कम करेगा । अगर यह बील पास हो जाता तो स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं का समुदाय आधारित संस्थाओं के कार्यकलाप पर काफी हद तक नियंत्रण हो जाता । विकेन्द्रीकरण और स्थानीय स्वशासन रिपोर्ट (1996) ने वन कानून में संशोधन का सुझाव दिया साथ ही व्यवस्थापन के लिए सामुदायिक वन, स्थानीय सरकार को हस्तांतरित किए जाए, इस मुद्दे पर भी जोर दिया।

इस रिर्पोट ने दूसरे वन कानूनों में भी संशोधन का सुझाव दिया जो काफी हद तक स्थानीय समुदाय आधारित संस्थाए, स्थानीय सरकार द्वारा नियंत्रित हों इस तथ्य पर जोर देता था ।

वर्तमान और संभाव्य विरोध, अधिकार नियंत्रण, प्रक्रिया, और समन्वय जैसे मुद्दों से ही जुडे रहे । इन मुद्दों से जुडे विरोधों को खतम करने के लिए काफी प्रयास किए गए । कुछ सफल भी हुए और कुछ सफल नहीं हो सके । कानूनी कारवाही के द्वारा ही इन विरोधों को कम करना सबसे उपयुक्त दृष्टिकोण था लेकिन इस प्रक्रिया में भी काफी समस्याएं थी जैसे कि प्रक्रियागत देरी, कानूनी औपचारिकताएं और जीत हार की अवस्था, जिसमे उन संवेदनशील मुद्दों जैसे वन उत्पादन का उपयोग, जिन पर कुछ समुदाय काफी निर्भर करते थे, वे प्रभावित होते, और इस तरह समानता के सिद्धान्त के प्रति न्याय की कमी देखी जा सकती थी ।

दूसरे तरीकों जैसे कि परस्पर वार्तालाप, विभिन्न विकल्प बीच-बचाव, और मित्रभाव का भी सुझाव दिया गया । उद्योगों में विभिन्न विकल्प की प्रक्रिया के द्वारा मजदूर और व्यवस्थापन के बीच विरोधों को कम किया जाता था, लेकिन नेपाल में अभी तक इसका उपयोग प्रभावकारी तरीके में नहीं हुआ था । समान्य फायदे के लिए आपसी समझदारी के द्वारा विरोधों को खतम करने के लिए और दोनों पार्टियों को संतुष्ट करने के लिए मित्रता और बीच बचाव प्रक्रिया को अपनाया जाता था । सामुदायिक वानिकी में विरोधों को खतम करने के लिए इन उपर्युक्त पद्धतियों को अपनाया जा सकता था । दोनों विरोधी समूहों के प्रतिनिधियों के द्वारा आपसी वार्तालाप के प्रक्रिया को अपना कर सामुदायिक वानिकी के बहुत से मुद्दे को सुल्झाया जा सकता था । यह पद्धति कोई महंगी नहीं थी और न ही समय की अधिकता की आवश्यकता थी, इस तरह दोनो तर फ के पार्टियों के समस्याओं को सुल्झाया जा सकता था । इस तरह समुदाय विरोधों को खतम करने के लिए यह अनिवार्य पहला विकल्प होता और दूसरे उपयुक्त विकल्प तभी प्रयोग में लाए जाते जब यह असफल हो जाता ।

इन विरोधों के आरंभ होने से पहले ही रोक की प्रक्रिया को अपनाया जा सकता था । इसके अन्तर्गत बढती हुई सामुदायिक चेतना, कानूनी मुद्दों में उपभोक्ता समूह का ज्ञान और उनके विचारों और समस्याओं को नित्य रूप से सुनना, आदि को समावेश किया जा सकता था । अधिकारियों और स्थानीय नेताओं ने कानूनी मुद्दों से संबंधित सूचनाओं को अपने ही तक सीमित रखा और जिससे स्थानीय लोग इन सूचनाओं से अनभिज्ञ रहे और सही रास्तों के चयन में भी असमर्थ रहे । यह बदलना चाहिए । समुदायों को सूचनाओं से अवगत होना चाहिए और साथ ही शिक्षित, तथा सामुदायिक वानिकी उपयोग और व्यवस्थापन से भी वाकिफ होना चाहिए । विरोधों के कारणों के आधार पर कानूनों में संशोधन किया जा सकता था । यह एक प्रभावकारी पूर्व कदम था ।

जिस किसी भी पद्धति से विरोधों को सुल्झाना था वह इस प्रकार का होना चाहिए था कि जो यह निश्चित कर सके कि वे समाधान, सामाजिक न्याय और समानता प्रदान करने योग्य हों ।

गाँव विकास समिति, नगरपालिका और जिला विकास समिति से संबंधित कानून प्राकृतिक स्रोत और वन स्रोत व्यवस्थापन से संबंधित अधिकार ।

कानून	निर्वाचित संस्था	कानूनी अधिकार और कर्तव्य
गाँव विकास समिति	गाँव विकास समिति	• वन स्रोत संबंधित अधिकार • वन स्रोतों को नीजी सम्पत्ति में बदलने से संबंधित अधिकार • वन स्रोतोंको बेचने से संबधित अधिकार
नगरपालिका	नगरपालिका	• वन संम्पत्ति के रक्षा से संबंधित अधिकार • वन स्रोतोंको नीजी संम्पत्ति मे बदलने से संबंधित अधिकार
जिला विकास समिति	जिला विकास समिति	• वन स्रोतोंको बेचने से संबंधित अधिकार • वन स्रोतों पर कर वृद्धि से संबंधित अधिकार ।

सामुदायिक वन व्यवस्थापन: गढवाल हिमालय के वन नीति, पंचायतों और वन पंचायतों का विवरण ।

द्वारा एस. श्रीधर और हेम गैरोला

भारत के सांघिक राजनीति ने भौतिक और आर्थिक स्रोतों के नियंत्रण और पहुँच से संबंधित मुद्दों के क्लिष्ट चित्र को प्रस्तुत किया । गढवाल के वनों में समुदायों का नियंत्रण और पहुँच का अभाव था । भारतीय स्वतंत्रता के करीब 50 वर्षो के वाद भी तानाशाही राज्यकी छाप अभी मौजूद थी और लोगों की जीवनशैली में भी बदलाव नहीं आया था । 90 के आरंभ में भुक्तान का संतुलन जैसी समस्याओं ने भारत को वृहत् पैमानें पर इन समस्याओ से जूझने के लिए बाध्य किया और परिवर्तन की ओर उन्मुख किया । तिहत्तरवें और चौहत्तरवें संबैधानिक संशोधन और केन्द्र राज्य संबंध में स्वच्छता की पहचान की आवश्यकता आधारभूत राष्ट्रीय स्वरूप को जरूर बदल सकता था । लेकिन फायदे के समुदायों के लिए सचेत कदम और न्याय तथा प्रजातांत्रिक प्रणाली में इनके नियंत्रण और पहुँच में बरावर की साझेदारी के बिना समुदायों के लिए आवश्यक रूप से फलपूर्ण सबित नहीं हो सकते थे । भारत के सांघिक रूप रेखा ने कानूनों का एक सिलसिला प्रदान किया और केन्द्रीय कानून प्रक्रिया भारत में फैले हुए

विभिन्न सेक्टर में लागू हुआ । वन और बीहड जीवन वह क्षेत्र था, जिसमें प्रगतीशील केन्द्रीकरण प्रक्रिया लागू हुई । केन्द्रीकरण इतना अधिक फैल रहा था कि राज्य सरकार नें न केवल बलपूर्वक वन स्रोतों का परिचालन करना शुरू किया बल्कि नीजी क्षेत्रों से प्राप्त टिम्बर पर भी अधिकार जमाया । उसी तरह केन्द्र सरकार ने छोटे से छोटे वन क्षेत्रों के निर्णय प्रक्रिया में भी अपना हस्तक्षेप शुरू किया । साथ ही छोटे-छोटे नियम-विनियमों ने कानून को बाधित किया और वर्तमान प्रशासनिक नियंत्रण इस प्रकार का था कि, प्रशासनिक आदेश कभी-कभी कानून से परे रख कर उपयोग होते थे, खास कर वहाँ जहाँ संभाव्य दोहरापन था ।

वर्तमान में विश्व बैंक द्वारा आर्थिक रूप से प्रायोजित अत्यधिक आकर्षक राष्ट्रीय कार्यक्रम 'संयुक्त वन प्रबंध' था । पर्यावरण और वन मंत्रालय के प्रशासनिक इकाई के माध्यम से संयुक्त वन प्रबंध की अवधारणा हुई । यह वन पंचायत का मातहत था जो कानूनी प्रणाली द्वारा अपने क्षेत्रों में स्रोतों का विकास और व्यवस्थापन करता था । तिहत्तरवें संशोधन के तहत वन स्रोतों में पहुँच और उन पर नियंत्रण के विना पंचायत अपने अधिकारों का प्रयोग नहीं कर सकते थे ।

वर्तमान वन नीति से संबंधित बहुत सी शिकायतें की जा सकती थी, खास कर जब वनको राज्य की संम्पत्ति ठाना जाना, जैसा कि ब्रिटीश राज्य में किया जाता था । उसी तरह वैसी नीतियाँ जो वन संरक्षण में लोगों की क्षमता को कम आंकती थी । साथ ही वैसी नीतियाँ जो लोगों के वन संरक्षण प्रक्रिया में एकदम कम सहभागिता को मान्यता देती थी, यह समझते हुए भी कि बहुत से वनवासी समुदाय अपनी जीवका के लिए वनों पर ही निर्भर करते थे । उत्पादन में वृद्धि के द्वारा उन राष्ट्रीय जरूरतों को पूरा करना लक्ष्य था, जो व्यापारिक या औद्योगिक पक्ष से संबंध रखते थे न कि सामान्य लोगों की जरूरतें जो ईन्धन और चारा आदि से संबंधित थे । वन पर दवाब को कम करने के क्रम में औद्योगिक उपयोग को नजर अंदाज कर दिया गया जो कि वन ह्रास का मुख्य कारण था । नये उद्देश्यों को शामिल किया जाना था, जैसे कि वन निर्माण के माध्यम से रोजगार बढाना बचे हुए प्राकृतिक वनों (जो कि जैविक विषमता और स्रोतों का प्रतिनिधित्व करता था) के संरक्षणके माध्यम से भारत के प्राकृतिक सम्पदा का संरक्षण करना ।

प्रशासन में स्थानीय समुदायों की भूमिका में ह्रास के फलस्वरूप बढते हुए वैमनस्य को महसूस कर अंततः 1993 में पंचायती राज कानून लागू हुआ, जिसमें राज्यों को अपने विकल्पों को लागू करने और राज्य अर्थ आयोग को स्थापित करने का मौका दिया गया ताकि राज्य और स्थानीय इकाईयों के बीच आर्थिक लाभांशों का निक्षेपण हो । इस समझौते के बावजूद राज्य सरकारों ने महत्त्वपूर्ण कार्यकलाप अपने अधीन ही रखे, जिससे उस उद्देश्य का हनन हुआ जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया था कि लोगों की इच्छा और जरूरतों के अनुसार ही वन संरक्षण की जिम्मेवारी राज्य सरकार को दी

गई थी । पूरक कानून, उत्साहपूर्ण कार्यकलाप के परिणाम स्वरूप मिलने वाले शक्ति नियोजन आदि की कमी थी । साथ ही पंचायत अंतर्गत वन पंचायत के बनावट के लिए खास कानूनी प्रावधान नहीं था, इस लिए वन पंचायत केवल वन के उपयोग को कानून सम्मत बनाता था । अधिक प्रभावपूर्ण होने के लिए पंचायत कानूनको उन मुद्दों की ओर उन्मुख होना था जो विभिन्न प्रकार के संस्थाओं द्वारा नियंत्रित थे, लेकिन उनपर इस तरीके से विचार किया जा रहा था मानो इन कार्यो को करने के लिए कोई रूपरेखा नहीं बनायी गई हो । वर्तमान अधिकार के रूप रेखा को निरंत्तर रूपसे शक्ति सम्पन्न करने के लिए पंचायत केवल एक उपरी आवरण था ।

पर्वतीय क्षेत्रों में वन पंचायत एक महत्वपूर्ण संस्थागत इकाई थे । सिमित क्षेत्रों में वनों पर स्थानीय नियंत्रण को मुहैया कराना इनका उद्देश्य था । भौगोलिक रूप से इन प्रावधानों का विस्तार किया गया और यद्यपि वन पंचायतों ने स्थानीय नियंत्रण के लिए एक यांत्रिक प्रक्रिया उपलब्ध कराया था, फिर भी काफी समस्याओं का सामाना करना पडा । १९९४ के मार्च में स्थानीय प्रतिनिधियों ने बहुत से ऐसे मुद्दों को चिन्हित किया जिनको सुल्झाना अत्यन्त ही आवश्यक था । ये मुद्दे थे सरपंच में शक्ति का संधीभूत होना, फलस्वरूप दूसरे सदस्यों की उपेक्षा, महिलाओं की नगण्य भूमिका प्रशासनिक कार्य पद्धति के विषय में अनभिज्ञता, अधिकार और कर्तव्य के प्रति चेतना की कमी, कार्यान्वयन के लिए उपयुक्त निर्देशन रेखाओं की कमी, और दूसरी विभिन्न प्रकार की समस्याएं ।

वर्तमान स्थिति, विकास में परिवर्तन की अवस्था थी खास कर उत्तर प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में । इस दिशा में उठाए गए कदम स्थानीय अवस्था के स्थायित्व के वाह्यावरण के रूप में बदलने के लिए उपयोग किया गया । द्वय और बहुआयामिक सहयोगों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के कार्यक्रमों का शुरूआत किया गया । ये कार्यक्रम स्थानीय समुदायों के लिए स्थायित्व के आधारभूत आवश्यकताओं पर आधारित थे । उदाहरण स्वरूप "स्वराज कार्यक्रमों" ने पंचायतों के मातहत पीने के पानी और पर्यावरण के मुद्दे की ओर ध्यानाकर्षण किया । लेकिन सरकार ने एक गैर-सरकारी संस्था को इस कार्यक्रम की देख भाल के लिए स्थापित किया । जल-स्रोत वन पंचायत अथवा वन विभाग के तहत वन में पाए जा सकते थे, इस तरह संस्थागत ढाँचा को नकारा गया और विरोध आरंभ हुए । "संयुक्त वन प्रबंध" कार्यक्रम ने नियंत्रण और पहुँच से संबंधित बहुत से मुद्दे को उठाया था जो पहले से ही समस्या के रूप में थे ।

इस तरह कानूनी, प्रशासनिक और सरकारी नीति के स्पष्ट ढाँचे के अभाव में स्थानीय समुदायों को वन व्यवस्थापन से अलग रखा गया और फलस्वरुप वे कष्ट में रहे ।

उत्तर प्रदेश के गढवाल हिमालय में वन और दूसरे स्रोतों के व्यवस्थापन के लिए एक एकीकृत ढाँचा और संस्थागत सोच की आवश्यकता थी ।

विरोध व्यवस्थापन विकल्प

न्यायिक इकाईयों के माध्यम से समाधान की कमियाँ

- पारंपरिक कचहरी पद्धिति
- स्थायी निर्णय
- पूर्ण जीत पूर्ण हार
- बहुत खर्चीला

अन्य न्यायिक इकाईयों के माध्यम से समाधान और उनकी कमियाँ

- किसी एक पक्ष में निर्णय और दूसरे को हानि
- निर्णय लेने वाली संस्था से संबंध रखने वाले पक्ष के प्रति निर्णय ।

बीच बचाव

- ऐसी संस्था के द्वारा विचार विमर्श जो विरोध से संबंध नहीं रखते हो ।
- जिला विकास समिति, जिला वन अधिकृत, और दूसरी संस्थाएं
- विभिन्न विकल्पों द्वारा
- उन लोगों के माध्यम से जो विरोध में शामिल लोगों के द्वारा चुने गए हो ।
- उन लोगों के माध्यम से जो निर्वाचन के उपयुक्त हो ।

परस्पर वार्तालाप

- विरोधी पार्टियों के माध्यम से ही विरोधों का सुल्झाव
- सुमधुर संबंध की स्थापना के माध्यम से वैमनस्यता का अंत
- प्रक्रिया में प्रत्यक्ष संलग्नता के कारण क्षमता विकास

पूर्व रोक

- लोगों की चेतना और कानूनी ज्ञान का विकास
- उपयुक्त कानूनी संशोधन
- नीतियों में एकरूपता

विरोध व्यवस्थापन का अंतिम लक्ष्य है दीर्घ अवधि समाधान, सामाजिक न्याय और समानता और निष्पक्षता ।

बांगलादेश के चिटगाँव पर्वतीय क्षेत्र में सामुदायिक वानिकी और स्थानीय प्रशासन के मुद्दे और चुनौतियाँ ।
द्वारा डा. एम. एम. खान

बांगलादेश के दक्षिण - पूर्व में चिटगाँव एक पर्वतीय इलाका है जिसकी जनसंख्या करीब 974,445 है । इसका क्षेत्रफल 5,098 वर्ग माइल है । यह बांगलादेश के दसवें भाग के क्षेत्र में फैला हुआ था लेकिन इसमे बांगलादेश की सम्पूर्ण जनसंख्या का केवल एक प्रतिशत ही यहाँ रहता था । ज्यादातर चिटगाँव पर्वतीय क्षेत्र वन निर्माण के लिए उपयुक्त था और करीब सम्पूर्ण क्षेत्र का एक तिहाई भाग या तो सुरक्षित अथवा सरकार संरक्षित वन से धिरा हुआ था और वन विभाग द्वारा नियंत्रित था । सरकारी वनों के लिए सबसे गंभीर समस्या थी, वन स्रोतों का काले बजारो में बिक्री ।

चिटगाँव पर्वतीय क्षेत्र के सामुदायिक वानिकी और स्थानीय प्रशासन मुद्दों और चुनौतियाँ का, और क्षेत्र से संबंधित नियम और कानून से सम्बन्धित मुद्दों पर इस पत्र में समीक्षा की गई थी और साथ ही उनका पुनरावलोकन भी किया गया था ।

चिटगाँव के पर्वतीय क्षेत्र में संभावित जन संख्या 974,445 है । ब्रिटीश राज्य में देश के दूसरे भाग की अपेक्षा यहाँ कुछ अलग ही तरीके से शासन होता था । 1900 ई. में चिटगाँव कानून निम्न लिखित उद्देश्य के तहत बनाया गया था, 'वनवासी लोगों के अधिकार जरूरतों की एवं परंपरा की रक्षा, तथा उनके स्थानीय और जातीय विशेषताओं के संरक्षण के माध्यम से उनके सांस्कृतिक पहचान की रक्षा । सम्पूर्ण कार्यकारी न्यायिक और आर्थिक अधिकार चिटगाँव जिले के डिप्टी कमिशनर और डीभिजनल-कमिशनर को दिया गया । वे लोग जो उस पर्वतीय क्षेत्र से संबंध नहीं र खते थे और बाहर से आकर रहने लगे थे उन्हे वहाँ जमीन रखने से वंचित किया गया । 1964 में उस समय के पाकिस्तान सरकार ने इस निषेधको रोक दिया जिससे कुछ चिटगाँव वनवासी समूह ने सरकार के विरूद्ध विद्रोह का एलान किया ।

फलस्वरूप 1989 में बांगलादेश के राष्ट्रपति ने पर्वतीय क्षेत्रों में शासन से संबंधित तीन कानूनों को स्वीकृति दी । 1997 के दिसम्बर में बांगलादेश सरकार और चिटगाँव के निवासियों के बीच शांति समझौता हुआ और इस तरह उस दशकों के विद्रोह का अंत हुआ । यह समझौता चिटगाँव जिले में स्थानीय सरकार और एक क्षेत्रीय इकाई के माध्यम से शक्ति निक्षेपण और अधिकार की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था ।

उपर्युक्त चिटगाँव के इतिहास को प्रस्तुत कर डा. खान ने चिटगाँव पर्वतीय क्षेत्र कानून और वन संशोधन अध्यादेश 1989 के बीच अंतर पर विचार विमर्श आरंभ किया । इस अध्यादेश के द्वारा वन कानून 1972 अच्छी तरह से पुनरावलोकित हुआ । यद्यपि

ये दोनों ही कानून भिन्न उद्देश्य के कारण काफी भिन्न थे लेकिन दोनों का भाव एक ही था, दोनो ही काफी हद तक नियंत्रित कानून थे । वन कानून, (1927) पर्वतीय सभाओं के प्रत्येक पक्ष पर सरकार के नियंत्रण का मार्ग बनाता था, और अध्यादेश वन संम्पत्ति सरकार के अधीन रखने का भाव परिलक्षित करता था । इस अध्यादेश के अनुसार वन और उसके स्रोतों का संरक्षण प्रशासनिक अधिकारियों तक सीमित था और स्थानीय लोग इसमे कहीं से भी संलग्न नहीं थे । उसी तरह स्थानीय प्रशासन सभा द्वारा बने हुए उप नियम के तहत वन से संबंधित क्रियाकलापों में सहभागी होने के लिए सच्चे अर्थ में अवसर प्राप्त नहीं थे । लोगों में विश्वास के अभाव के आधार पर अध्यादेश का निर्माण हुआ जिसके द्वारा वन के दुरूपयोग किए जाने पर सजा का प्रावधान था, वनिस्पत इसके कि वन अधिकारियों और स्थानीय लोगों के बीच समन्वयता में सहयोग देता । डा. खान ने निष्कर्ष भाषण में चिटगाँव पर्वतीय क्षेत्र में सामुदायिक वानिकी और स्थानीय प्रशासन के भविष्य पर प्रकाश डाला । उनके अनुसार वर्तमान अवस्था उत्साहप्रद नहीं थी । बांगलादेश के पूरे क्षेत्र में ६ प्रतिशत वन क्षेत्र था और प्रत्येक व्यक्ति वन क्षेत्र घटकर 0.002 हेक्टर हो गया था जो कि संसार में सबसे कम था । वार्षिक वन ह्रास की गति 3.3 प्रतिशत थी जो कि चितांजनक थी । चिटगाँव में करीब 750,000 एकड वन पिछले कुछ वर्षो में समाप्त प्राय हो गया था । बांगलादेश में स्थानीय सरकार को न तो स्वायत्तता दी गई थी और नहीं प्राप्त स्रोतों का परिचालन की अनुमति ही । ये सारे स्रोत स्थानीय स्तर पर मिलिटरी शासन के सहयोग के लिए केन्द्र सरकार के द्वारा परिचालित होते थे । यद्यपि शक्ति निक्षेपण और स्वामित्व की बातें की गई थी लेकिन कोई कदम सच्चे अर्थ में स्थानीय इकाईयों को प्रभावकारी नहीं बना सके । 'चिटगाँव शान्ति समझौता' एक अपवाद था, लेकिन इसे भी संसद में औपचारिक रूप से निश्चित करना था और कार्यशील बनाना था ।

1978 में वन विभाग ने एक सामुदायिक वन परियोजना को शुरू किया । इस परियोजना के अन्तर्गत विभाग को जनता के जमीन पर स्थानीय समूहों के साथ मिल कर असमान पौधों का रोपण और संस्कृति की स्थापना, रक्षा, और व्यवस्थापन में मदद करना था । ये परियोजनाएं असफल रहीं । इन असफलताओ के कारणों कें अन्वेषण के फलस्वरूप यह स्पष्ट हुआ कि वन विभाग के अधिकारियों का सामुदायिक वन कार्यक्रम के प्रति दृष्टिकोण सहयोग मूलक नहीं थे । उन्हें लगा कि सामुदायिक वानिकी एक तकनीकि कार्यक्रम था जो कि पेशेवरों द्वारा ही कार्यान्वित हो सकता था । कष्टदायी कानूनों की उपस्थिति ने भी वनों को पुलिस के अधीन कर दिया और गाँव के लोगों को चोर करार दिया और वन अधिकारिंयो और लोगों के बीच दीर्घकालीन दुश्मनी को और अधिक बढाया दिया । साथ ही बहुत से वन अधिकृत और कर्मचारी जो सामुदायिक वानिकी मे संलग्न थे, पूरी तरह से प्रशिक्षित भी नहीं थे ।

डा. खान ने अवस्था में सुधार के लिए निम्न लिखित विचार व्यक्त किए ।

- स्थानीय प्रशासन की स्वायत्तता संदेह पूर्ण थी । इस दिशा में एक उचित कदम की आवश्यकता होगी । यदि स्वायत्तता के माध्यम से शक्ति निक्षेपण में मदद होगा और चिटगाँव के जन प्रतिनिधियों को अधिकार मिलेगा ।
- स्थानीय निकायों को आर्थिक रूप से शक्ति सपन्न करना उनके स्वयत्तता को बर-करार रखने के लिए आवश्यक था । समझौते में इस तरह का प्रावधान था ।
- स्थानीय निकायों पर नौकरशाही के नियंत्रण को निश्चित रूप से कम करना, समझौते के प्रावधान ने इस दिशा में काम किया ।
- स्थानीय इकाईयों के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए छान बीन प्रणाली, तथा प्रशिक्षण और प्रोनत्ति में रोक की जरूरत थी ताकि यह निश्चित हो सके निकायों के निर्णय सही तरीके से लागू हों ।
- स्थानीय विकास के प्रति इमान्दारी, कडी मेहनत, और नेतृत्व जैसी भावनाओं का उद्‌भव ।

पाकिस्तान के उत्तरी क्षेत्र में सामुदायिक वानिकी का उद्‌भव और स्थानीय प्रशासन के साथ इसका संबंध

द्वारा अलिगौहर और मोहम्मद इकबाल

पाकिस्तान के वन को इतिहास ने परिलक्षित किया कि मजबूत नौकरशाही, तानाशाही और तकनीकि प्रक्रियाओं ने वन को, देश के वासियों और संस्कृति से अलग रखा । इस प्रणाली ने लोगों के वन के साथ दीर्घकालीन संबंध से और सरकारी विभागों से जिनके पास अधिकार थे, अलग रखा । इस संदर्भ में सामुदायिक वानिकी, सामाजिक वानिकी, ग्रामीण वानिकी की अवधारणा अर्थहीन थी ।

हिन्दू कुश-हिमालय क्षेत्र के लिए वानिकी में प्रजातांत्रिकरण एक चुनौति थी । विभिन्न निकायों के बीच प्रभावकारी और स्थायी सहभागिता को विकसित करने के लिए संस्थागत, कानूनी और राजनीतिक नवीकरण आवश्यक था । सरकारी अधिकारियों को समुदायों के प्रति जिम्मेवार बनाने में प्रजातांत्रिकरण का उपयोग हुआ । समुदायों को क्षमता विकास के जरीये शक्ति सम्पन्न कर और उन्हें एक शक्ति सम्पन्न संस्था के रूप में व्यवस्थित कर, यह किया जा सकता था ।

ऐतिहासिक रूप से मुगल साम्राज्य की प्रशासनिक संस्कृति आधुनिक नौकरशाही की आधार नहीं थी । इसलिए "इस्ट इंडिया कंपनी' ने अपने मुगल प्रणाली के आधार पर कडे परिश्रम से वन नौकर शाही को अवधारणा की और इसके द्वारा वन कानून का निर्माण किया । इसका मुख्य उद्देश्य था शान्ति सुरक्षा बनाए रखना न कि लोगों के हित के विषय में सोचना । पुलिस, आर्मी और दूसरी सेवाओ से वन अधिकारी चुने जाते थे और पूरे 19 वीं शताब्दी में वन का इस तरह दुरूपयोग किया गया ।

1878 के भारतीय वन कानून ने वन को दो श्रेणीयों में बांटा, ये थे सुरक्षित वन, और संरक्षित वन । एक घटना के जाँच बूझ के क्रम में जिसमें कि कुमाऊ के वनों में आग लगने से हजारो एकड वन जल गए थे, 'विन्धन आयोग' ने यह निष्कर्ष निकाला था कि वन विभाग वनों के इस नए श्रेणियों का नियंत्रण ग्रामीणो को देदे । 1923 के नए वन योजना के तहत वनों के व्यापारिक लाभांशो के कुछ प्रतिशत का उन्हें हकदार बनाया गया ।

1950 में नीजी वनों का नियंत्रण राज्य सरकारके नियंत्रण में हो गया जिससे लोग प्रतिकिया में आकर वृक्षों को काटना प्रारंभ करने लगे ।

पाकिस्तान में सुरक्षित वन बुहत ही सीमित थे जिससे टिम्बर और ईन्धन की लकडी के उत्पादन और निकासी में काफी असंतुलन महसुस किया जा रहा था । सदियों से आन्तरिक और बाह्य कारणों से वन स्रोतों का ह्रास और नाश होता रहा था । पाकिस्तान के वन के इतिहास से यह स्पष्ट होता थाकि वन के व्यवस्थापन और संरक्षण में समुदायों की संलग्नता के लिए काफी कदम उठाये गए थे लेकिन इन कदमों के विरोध में सरकार भी उतनी ही अडचनें पैदा करती रही थी । विशेष रूप से 1978 से सरकार और दातृ संस्थाएं, वन विकास कार्यक्रमों में समुदायों को एक इकाई के रूप में संलग्न कराने के लिए कदम उठाते रहे थे । इन कोशिशों के बावजूद सामुदायिक और सामाजिक वनों की सफलता में विभिन्न प्रकार की रूकावटों को महसूस किया गया है ।

लेकिन पाकिस्तान ने इस क्षेत्र में काफी सफलताएं भी हासिल किया हैं । एक उदाहरण 'चल्त चप्रोते' से आया था, यह उत्तरी भाग में था । यहाँ 6 गाँवो ने वन व्यवस्थापन का भार, वर्तमान पारंपरिक प्रणाली को हटाकर वहन किया था । चप्रोते की इस घटना ने उत्तरी क्षेत्र के वनों को एक नयी आशा प्रदान की । एक ज्वलंत प्रश्न 'आगा खाँ ग्रामीण सहयोग परियोजना' और दूसरी संस्थाओं के लिए यह थाकि किस तरह समुदाय पर्यावरणीय संतुलन और स्थायी विकास में अपना सहयोग दे सके । सामुदायिक वानिकी के संदर्भ में सरकारी कर्मचारी और निर्वाचित प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह कर सकते थे । जैसे विशिष्ट नीतियों का निर्माण और परि-चालन । लेकिन पाकिस्तान और उसके जैसे अन्य देशों में जहाँ कि समाज के कुछ अभिजात वर्ग राजनीति को प्रभावित करते थे, वहाँ साधारणत: सामान्य लोगों की इच्छाओं और आशाओं को महत्त्व नहीं दिया जाता था । निर्वाचित प्रतिनिधि जिन्होनें वानिकी (fostering) में और दूसरे विभागों में योगदान दिया, वे ऐसे शख्शियत थे जो चुनावी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे । लेकिन सामुदायिक वानिकी में निर्वाचित संस्थाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती थी ।

हिन्दू कुश-हिमालय क्षेत्र के देश, वन व्यवस्थापन के संबंध में कमोबेश एक जैसी ही समस्याओं का सामना करते आरहे थे । सामुदायिक वानिकी में मुख्य चुनौति थे, राष्ट्रीय

नीति और कानून समुदाय क्षमता वृद्धि, संबंधित क्षेत्रो में वन व्यवस्थापन में एकता, और वन अधिकारियों की पुर्नबहाली (reorientation) और पुन प्रशिक्षण ।

पाकिस्तान में क्षेत्रीय सरकार के माध्यम से ग्रामीण वनों को अधिकार दिया गया था कि सरकार के अधिकारों को ग्रामीण समुदायों को सौंपना ताकि सरकार अधिकृत जमीनों को सुरक्षित वनों में परिवर्तित कर सके । लेकिन वन व्यवस्थापन में समुदाय सहभागिता के तहत एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जिसमें मानव मूल्य, जिम्मेवारी की भावना एकता परस्पर विश्वास, त्याग, आदि प्रतिष्ठा और नौकर शाही से अधिक महत्त्व रखते हों । दुर्भाग्यवश पाकिस्तान में वन संस्थाओं की बुनियाद पुलिस और आर्मी आफीसरों द्वारा रखी गई थी, जिनका रूख काफी कडा था । वन अधिकारियों के बीच इस तरह के रूख के पनपने से आफीसरो और ग्रामीणों के बीच एक खाई सी बनती गई । इसीलिए सहयोगी वन कार्यक्रमों को अच्छी तरह से चलाने के लिए बहुत से सुधारों की आवश्यकता थी । जिनमें नीति और कानूनगत सुधार, और वन विभाग की कार्यक्षमता को बढाने के लिए संस्थागत सुधार उल्लेखनीय थे ।

समूह तीन

नेपाल में वन व्यवस्थापन और वन व्यवस्थापन में स्थानीय संस्थाओं की भूमिका ।
द्वारा माधव पौडेल

नेपाल में लोगों के सामाजिक आर्थिक संतुलन को बनाए रखने में वन ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किया । अनुभव ने यह दिखाया कि यदि नेपाल के वनों का उपयुक्त तरीके से व्यवस्थापन किया जाता तो ये न केवल राष्ट्र के मांगो को परिपूरित करते बल्कि ऐसे कई अवसरों का सृजन होता जो लोगों के जीवन स्तर को भी सकारात्मक रूप से प्रभावित करता ।

लेकिन लोगों की सक्रिय सहभागिता में कमी, राजनीतिक प्रतिबद्धता में कमी, लोगों में चेतना का अभाव, प्राकृतिक स्रोतों की अवस्था, और सुस्त तरीके से कृषि में बढोत्तरी आदि वन स्रोतों को बुरी तरह से प्रभावित करते रहे । यद्यपि नेपाल के वनों के उपयोग, संरक्षण, और विकास के लिए प्रभावकारी कार्यक्रमों की आवश्यकता थी ।

यद्यपि नेपाल के वन अपने जैविक विषमता के लिए प्रसिद्ध हैं लेकिन करीब १९५९ से वृहत् पैमाने पर वन नाश के कारण यह विशेषता काफी प्रभावित हुई । अत्यधिक चारागाहों का प्रचलन, उपज के लिए सीमान्त भूमियों का उपयोग और बाढ ने नेपाल के वनों का ह्रास किया । वन के संरक्षण और व्यवस्थापन से संबंधित लोगों के ज्ञान और चेतना को जगाने वाले कार्यक्रमों की कमी भी वन ह्रास का कारण बनी । नेपाल

की बढती हुई जन संख्या ईन्धन, खाद्य सामग्री, खाद और चारे के लिए वन पर निर्भर करती थी । तीव्र गति से बढ्ती हुई जनसंख्या, निर्धनता और वैकल्पिक रोजगार के अवसर की कमी ने भी वन स्रोतों पर दबाव को बढाया । नेपाल का जैविक, भौतिक बनावट भी वातावरण के ह्रास का कारण वना । साल के चार महिनों की अविरल वर्षा के कारण तेजी से बहती हुई नदियो में मिट्टी आसानी से बह जाया करती थी ।

१९५० तक नेपाल के वन पारंपरिक तरीके से व्यवस्थित किए जाते थे । इनमे से कुछ वन कर संकलन के लिए बढाए जाते थे और खास कर पहाडों में समुदाय के लाभ के लिए निरंतर रूप से व्यवस्थित किए जाते थे । १९५६ में राष्ट्रीयकरण के साथ वन पर नीजि स्वामित्व का अन्त कर दिया गया और वनों के संरक्षण संबंधि क्रियाकलाप का दायित्व सरकार पर आ गया । नीजि वन, सरकार के स्वामित्व में आगए और वनों के पूर्व स्वामी जिनका स्वामित्व वनों से हट गया था, वनों का उपयोग लापरवाही के साथ करने लगे । अत्यधिक तेजी से वन का नाश होने लगा और सरकार का नियंत्रण और वनों के लिए उनकी देख रेख भी पर्याप्त नहीं थी । यद्यपि नेपाल के पाँच-वर्षीय कार्यक्रम ने वन विकास के लिए बहुत से विकल्प बनाए, लेकिन आशा से बहुत ही कम सफलता प्राप्त हुई । इकाई आधारित नीतियो में समन्वयता के दृष्टिकोण की कमी थी, केन्द्रीय क्षेत्रीय, और स्थानीय विकास संबंधित नीतियाँ और कार्यक्रम काफी कमजोर थीं और कार्यक्रमों को काफी सुस्त तरीके से लागू किया गया । वन नाश और भूस्खलन निरंतर रूप से होते रहे । कृषिगत उत्पादकत्व में वृद्धि नहीं आयी, वैकल्पिक रोजगार के मार्ग विकसित नहीं किए गए फलस्वरूप गरीबी बढती रही ।

नेपाल के संविधान ने जोर दिया कि राष्ट्र के प्राकृतिक स्रोतों को लाभदायी और सुव्यवस्थित किया जाना चाहिए, स्वच्छ वातावरण को व्यवस्थित करने के लिए लोगों में चेतना जागृत की जानी चाहिए, भौतिक विकास से वातावरण पर पडने वाले विपरीत प्रभावको रोकना चाहिए, और राष्ट्र के विलक्षण पौधो और जानवरों के संरक्षण के लिए विशेष उपायों की सृजना होनी चाहिए । वनों, जंगली जीव जन्तु, प्राकृतिक स्रोतों, और वातावरण के संरक्षण के अनुसार ही कानूनी और संस्थागत उपायों की सृजना की गई थी, और नेपाल को वन कानून निर्माण के संबंध में प्रारंभिक राष्ट्र समझा जाता था ।

बहुत सी असफल कोशिशों के वाद १९८७ में सामुदायिक वन की अवधारणा ने अपना पांव जमाया और वनों को उपभोक्ता समूह को हस्तांतरित करने के कदम उठाए गए । १९८९ में प्रजातंत्र के पुर्नस्थापना और १९९२ में स्थानीय निर्वाचन के बाद उपर्युक्त प्रक्रिया और भी मजबूत होती गयी । वन विकास गुरू योजनां ने भी इस दृष्टिकोण को कार्यान्वित करने में सहयोग दिया । इसी तरह विकेन्द्रीकरण और उपयुक्त शासन प्रणाली के अनुसार नागरिक ही विकास प्रक्रिया के सूत्रधार हुए और परिवर्तन के आधार भी । स्थानीय संस्थाएं निर्णय प्रक्रिया, स्वामित्क जिम्मेवारी आदि जैसे बुंदों के प्रति समर्पित देखे गए, क्योंकि पिछले अनुभवों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका था कि

केन्द्र के द्वारा किए गए विकास के कार्यक्रम स्थानीय जरूरतों और समस्याओं के लिए अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि अप्रभावकारी भी थे ।

स्थानीय स्तर की संस्थाओं में स्वायत्तता स्थापित करने के मुद्दे में दीर्घकालीन सोच होने के वावजूद स्थानीय इकाईयों में विकेन्द्रीकरण और शक्ति निक्षेपण जैसे मुद्दों के प्रति उदासीनता ही रही । लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि विश्वसनीय नहीं थे और केन्द्रीय अधिकारियो के प्रति झुकाव यथावत ही रही । लोगों के दृष्टिकोण के अनुरूप विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया नहीं थी और न ही प्रभावकारी रूप से इसका परिचालन किया गया था ताकि यह सामान्य लोगों के जीवन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर सके । तत्कालीन वर्तमान कानून और नियमो में स्थानीय संस्थाओं से संबंधित कुछ विकल्प (Provisions) थे लेकिन जब स्थानीय समस्याओं को सुल्झाने के लिए स्थानीय संस्थाओको शक्ति सम्पन्न करने, विकास मूलक कार्यक्रम को लागू करने और स्थानीय विकास प्रक्रिया के सूत्रधार की भूमिका अदा करने आदि में गंभीर समस्याओं का सामना करना पडा । परस्पर जुझने वाले अधिकारों और जिम्मेवारियो, राजनीतिकरण का डर, इकाईगत कार्यक्रमों में पूरकत्व की कमी, अधिकारों का अस्पष्ट निक्षेपण और स्थानीय प्रतिनिधियों को अधिकारो की कमी आदि के कारण समस्याएं उठी । लोक प्रतिनिधि यों को वन व्यवस्थापन, पर्यावरण संरक्षण, भूस्खलन नियंत्रण आदि के प्रति जिम्मेवार बनाने के लिए विभिन्न प्रकार के मापदण्डो की आवश्यकता थी । कार्यों का स्पष्ट रेखांकन, कर्तव्य, केन्द्र, जिला और ग्रामीण संस्थाओं के जिम्मेवारियो की स्थापना की आवश्यकता थी । केन्द्रीय, इकाई गत और स्थानीय संस्थाओं के बीच पूरकत्व की भावना की मजबूती की आवश्यकता थी । यह आवश्यक था कि तृण-मूल स्तर में योजनाओ की प्रक्रियाओं को आरंभ करना और स्थानीय विकास प्रक्रिया में पूरकत्व और समन्वयात्मक दृष्टिकोण को स्थापित करना । लोगों में चेतना जागृत करने के लिए विशेष कोशिशों को शुरू करने की आवश्यकता थी ।

लोगों की सहभागिता को नकारने की प्रवृत्ति के प्रति सामुदायिक वन की अवधारणा एक अपवाद के रूप में उभरी थी । फिर भी नेतृत्व और समन्वय में बहुत से खायी वैसे ही रहे, जिसके कारण थे आधिकारिक और सुयोग्य संस्थाओं की कमी । साथ ही कुछ उच्च स्तरीय पदाधिकारी और कानून निर्माता अभी नेपाल के सामुदायिक वन के प्रति संकीर्ण विचार धारा रखते थे । साधारण: वन संबंधी मुद्दों के प्रति जनचेतना की कमी, केन्द्र के निर्णय निर्माण प्रक्रिया में प्रति तदर्थ दृष्टिकोण, प्रभावकारी कार्यक्रमों की कमी, संबंधित इकाईयों के बीच समन्वय की कमी अभी भी वर्तमान थी ।

सामुदायिक वन व्यवस्थापन सहभागियों में एकजूटता की कमी से अन्य समस्याएं निकली । सामुदायिक वन की वर्तमान प्रणाली में स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं को नजर अंदाज किया । इसलिए स्थानीय इकाईयों का सामुदायिक वन उपभोक्ता समूह के प्रति असहयोगात्मक दृष्टिकोण था । इस तरह वन विकास कार्यक्रम प्रभावित हुए । स्थानीय,

निर्वाचित नेताओं और वन उपभोक्ता समूहों की भूमिकाएं स्पष्ट नहीं थे । विकेन्द्रीकरण कानून इन समस्याओं को मद्दे नजर रखकर होना चाहिए । विकेन्द्रीकरण यदि सामुदायिक वानिकी से संबद्ध नहीं हो तो यह अपूर्ण होगा । इसलिए सामुदायिक वानिकी में स्थानीय निर्वाचित संस्थाओं की भूमिका स्पष्ट होनी चाहिए । इसी तरह आधारभूत विकास, स्थानीय लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि, आयमूलक रोजगारी में नए तकनीकियों का विकास जैसे मुद्दों में जनता नीजी सहभागिता को विकसित करने के लिए निर्वाचित संस्थाएं इच्छुक थी; और ऐसा तभी हो सकता था जब सामुदायिक वन उपभोक्ता का साथ हो । वन नीतियों ने भी सामुदायिक विकास कार्यकलापों में उत्साह दिया और इस तरह स्थानीय संस्थाए जनता और नीजी सहभागिता को बढावा दे सकीं ।

लोगों का यह मानना था कि सभी निर्वाचित प्रतिनिधि राजनीतिक आदर्शों द्वारा मान्यता के आधार पर काम करता तो विकास के कार्यक्रमों में उसकी भूमिका को कम से कम कर दिया जाता और इसतरह वह मतदाताओं के बीच अपनी पहचान खोता जाता । निर्वाचित प्रतिनिधियों को जनमत के आधार पर कार्य करना चाहिए न कि अपने पार्टी के सदस्यों और कार्यकर्ताओं के बहुमत के आधार पर । निर्वाचित प्रतिनिधि सामुदायिक समूहों में चेतना वृद्धि के लिए नेतृत्व करें और कोष का गलत इस्तमाल नहीं करें । सभी संबंधित पार्टियों को सहयोग करना चाहिए, जो अपनी-अपनी पार्टी के आधार पर निर्वाचित हुए हैं । साथ ही उन्हें सभी प्रतिनिधियों के बीच जनमत के आधार पर कार्यक्रम तैयार करना चाहिए । मुख्य मुद्दा यह था कि निर्वाचित प्रतिनिधियों का सामुदायिक वानिकी में सहभागिता को निश्चित करना न कि स्रोतों पर नियंत्रण करना।

भारत के उत्तर पूर्वी क्षेत्र में सामुदायिक वन और स्थानीय शासन के मुख्य मुद्दे और चुनौतियाँ

- द्वारा डा. बी.पी. मैथानी

भारत के उत्तर पूर्व के सात राज्य जैविक विषमता, जातीय बहुतायतता, स्थानीय ज्ञान, और स्थानीय संस्थाओं के धनी हैं । इसी कारण यह एक विशेष भौगोलिक इकाई है । भौतिक रूपरेखा में परस्पर विरोध देखा जा सकता था, और ये विभिन्नता ब्रम्हपुत्र उपत्यका के तराई से लेकर पूर्वी हिमालय के उच्चतम शिखर श्रृंखला तक देखी जा सकती थी । यद्यपि भौगोलिक क्षेत्र के दो तिहाई भाग वन से ढके हुए देखे जा सकते थे । इनमें से बहुत से वन या तो किसानों के विभिन्न प्रकार के खेती के कारण नष्ट हो गए । यह वन क्षेत्र करीब २०० से उपर वन वासी जातियों का निवास था, जो जातीय विषमता का एक महत्त्वपूर्ण परिचायक था । प्रत्येक वन वासी जाति और गैर वनवासी जाति का अपना एक खास सामाजिक सांस्कृतिक प्रणाली था और मिश्रित और समन्वय सांस्कृतिक उत्थान का आधार था । पिछले शतक में तेजी से जनसंख्या दर परिर्वतन होने के कारण जनसंख्या के आकार और प्रकृति में भी परिवर्तन हुआ । 1991 में 310 लाख से उपर लोगों के सांस्कृतिक और जातिगत विषमताओं के बावजूद कुछ

प्रस्तावित रूपरेखा

- प्रत्येक गाँव विकास समिति में ५३ निर्वाचित प्रतिनिधि हैं । अगर वे सचेतित किए जाएं तो वे वन के विकास, संरक्षण और व्यवस्थापन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाहकर सकते हैं ।
- निर्वाचित प्रतिनिधि साधारणत: वन उपभोक्ता समूहों से संलग्न नहीं है, इसलिए वे वन उपभोक्ता समूहों के बैठको में उन्हें गाँव विकास समिति के प्रतिनिधि के रूप में निमंत्रित किया जाना चाहिए ।
- सामुदायिक वनों के लाभांशों और उत्पादों को दूसरे सामाजिक विकास के कार्यो में उपयोग किया जा सकता है, लेकिन यह तभी सम्भव है जब इन उत्पादों से आय आर्जन किया जाए । वन उपभोक्ता समूहों के पास आय मूलक क्रियाकलापों को शुरू करने के लिए पर्याप्त कोष नहीं है । इसलिए व्याज सहित वा रहित ऋण प्रदान किए जाने चाहिए ।
- गाँव विकास समिति और वन उपभोक्ता समूहों के लिए क्षमता वर्धक और कारीगरी मूलक प्रशिक्षण आवश्यक है ।
- राष्ट्रीय सरकार और वन उपभोक्ता समूहों के प्रयासो से वन आधृत उद्योगों की स्थापना होनी चाहिए ।
- हिमाली क्षेत्र पर्यटन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसलिए वन संरक्षण के समय पर्यटन को भी मद्दे नजर रखना चाहिए ।
- वन जिला विकास समिति, गाँव विकास समिति और उद्योगों के कानूनों में पूरकत्व की भावना होनी चाहिए ।
- उपभोक्ता समूहों में सभी उपभोक्ताएँ समान रूप से परिचालित हों, इसलिए निर्वाचित प्रतिनिधि यदि उपभोक्ता हैं, तो उन्हें कार्यकारिणी समिति में नहीं होना चाहिए । जब निर्वाचित प्रतिनिधि कार्यकारिणी समिति में रहते हैं तो समस्याएं उठ्ती हैं । लेकिन निर्वाचित नेताओं और वन उपभोक्ता समूहों के बीच विचार विमर्श से समन्वय में मदद मिलता है ।
- स्थानीय निर्वाचित नेताओं और वन उपभोक्ता समूहों के बीच कोष और स्रोतों के नियंत्रण को लेकर मतभेद, उसी तरह दोनों इकाईयों के बीच किसी व्यक्ति को लेकर मतभेद, वन उपभोक्ता समूहों के लिए ठीक नहीं है । इस पर गंभीरता पूर्वक सोचा जाना चाहिए ।
- वन उपभोक्ता समूह के नेतृत्व की भूमिका निर्वाचित प्रतिनिधियों को नहीं दिया जाना चाहिए, इसे सामुदायिक वन उपभोक्ता समूहो के जिम्मे ही रहना चाहिए ।
- राजनीति एवं वन उपभोक्ता समूहो में महिलाओं की सहभागिता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ।

विशेषताएं उनमें सामान्य ही थी । ये विशेषताए थीं, अनुपातिक अर्थ व्यवस्था जो परि वर्तनमूल कृषि पद्धति से उत्पन्न होती थी; और मजबूत पारंपरिक संस्थाएं जो स्रोत उपयोग का संचालन और व्यवस्थापन करती थी और समुदायों के सामाजिक आर्थिक कार्यो को भी व्यवस्थित करती थी । वनों और भूमियों के महत्त्वपूर्ण भाग समुदायों के स्वामित्व में थे न कि सरकार के । यद्यपि औपचारिक संस्थाओं के पादुर्भाव से पारंपरि क संस्थाएं टूट रही थी फिर भी बहुत से लोग अपनी पहचान के लिए अभी भी भूमि और भूमि से संबंधित स्रोतों से जुडे रहते थे ।

भारत के पूर्वी हिमालय की अवस्था और शासन पद्धति पूरी तरह से भिन्न थी । भारत में पंचायत के माध्यम से प्रशासन एक आधारभूत कानून था । लेकिन पूर्वी हिमालय में इसका इस्तमाल नहीं था इस क्षेत्र में विशेष प्रकार की राज्य सरकारें थी और इन्हें केन्द्रीय सरकार द्वारा मान्यता भी प्राप्त थी । प्रत्येक राज्य के अपने विकेन्द्रीकरण कानून और नियम थे और प्रत्येक में विभिन्न प्रकार के औपचारिक और अनौपचारिक स्थानीय स्वशासित संस्थाएं थीं । ऐतिहासिक रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार के आदिवासी समूह परिवर्तन मूलक कृषि प्रक्रिया में अपने जीवकोपार्जन के लिए संलग्न थे, और वे अपने कानूनी क्षेत्र के भीतर सर्वेसर्वा शक्ति को स्वीकार भी करते थे । वन और भूमि के इर्द-गिर्द ही पारंपरिक संस्थाओं के क्रियाकलाप सिमित थे क्योंकि वन और भूमि ही मुख्य रूप से आर्थिक स्रोतों के साधन थे । इन्ही स्रोतों के विभाजन और उपयोग में इनके क्रियाकलाप केन्द्रित थे । फलस्वरूप गाँव स्तर पर मजबूत और कानून सम्मत संस्थाएं उभरीं जो सामान्य संम्पत्ति और स्रोतों का व्यवस्थापन करती थी और पारंपरिक नियमों-कानूनों के अनुसार शांति सुव्यवस्था भी कायम करती थीं । सबसे अधिक सामान्य पारंपरिक संस्था थी 'गाँव बरा', यह समूह (आदिवासी) के नेताओं द्वारा बनता था, जो गाँव सभा बनाते थे । यह एक शक्ति शाली संस्था होती थी जो समुदायों द्वारा सामान्य संम्पत्ति और स्रोतों के स्वशासन और स्व-व्यवस्थापन पर आधारित थी । ये पारंपरिक संस्थाएं लगातार रूप से समुदायों को प्रभावित और उनका मार्ग निर्देशन करती थीं खास कर जब इन समुदायों का आधुनिक संस्थाओं के अधिकारियों के साथ अर्न्तक्रिया और आमना-सामना होता था । राज्य सरकार ने कानून और अधिकार, कर्तव्य आदि की निश्चितता के माध्यम से इन संस्थाओं को औपचारिकता प्रदान किया।

पंचायती राज और आदिवासी सभाएं विकेन्द्रीकृत प्रशासन के औपचारिक स्थिर संस्थाएं थी । तिहत्तरवें कानून संशोधन के पाँच वर्ष बीत चुके थे, लेकिन विकेन्द्रीकरण की ओर के प्रयास धीमी गति के थे । सभी राज्यों ने पंचायती राज कानून को लागू कर दिया था, लेकिन त्रिपुरा अपवाद था, जहाँ कि पंचायतों को क्रियाशील बनाने में बहुत ही कम सफलता हासिल की गई थी । सामान्यत: बहुत से कारणों की वजह से उत्तर पूर्वी भारत के आदिवासी क्षेत्र मुख्य धारा से कट रहे थे । जब भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की तब एक संवैधानिक सभा की उप-समिति ने आदिवासी पर्वतीय क्षेत्रों के प्रशासन के लिए संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से संवंधित मुद्दों का जाँच किया । पर्वतीय

समुदायों को कुछ अंश तक स्वायत्तता देने के लिए छठा विकल्प अपनाया गया । छठे विकल्प के अन्तर्गत राज्य और पारंपरिक आदिवासी संस्थाओं के बीच बहुत से क्षेत्र में बीच-बचाव (आमना-सामना) के लिए स्वायत्त जिला परिषद का निर्माण किया गया। प्राकृतिक स्रोतों के उपयोग व्यवस्थापन और पारंपरिक अभ्यासों के संरक्षण से संबंधित विषयों के लिए इन परिषदों को विभिन्न प्रकार के कानून निर्माण के अधिकार थे । साथ ही परिषदों को कार्यकारी नैयायिक, कानूनी और आर्थिक अधिकार दिए गए थे ताकि वे आदिवासी स्वशासन के विभिन्न अंगो से संबंधित रहें । इस तरह संविधान के छठे विकल्प का भाव था, स्व-व्यवस्थापन और स्वायत्तता जब कि नए पंचायती राज कानून ने स्थानीय इकाईयों के विकास मूलक भूमिका पर जोर दिया । लेकिन स्वायत्त जिला परिषद् के कानून निर्माण अधिकार में रूकावटें आयीं क्योंकि कानून निर्माण के बाद राज्य सरकार की स्वीकारोक्ति की आवश्यकता थी । दूसरे राज्यों ने स्थानीय स्वशासन के अपने खास तरीके के नमूनों को अपनाया जो विकेन्द्रीकृत स्रोत व्यवस्थापन और ग्रामीण विकास से संबंधित था । वन और दूसरे स्रोत व्यवस्थापन के लिए भारत में राज्यगत विशेष नीतियाँ नहीं थी । राज्य सरकारें साधारणत: राष्ट्रीय नीतियो और कानूनों का ही अनुगमन किया करती थी । वर्तमान राष्ट्रीय नीति 1988 में घोषित हुई थी । इसका मुख्य उद्देश्य था पर्यावरण स्थिरता और क्षेत्रगत संतुलन को कायम रखना । इस नीति के मुख्य उद्देश्यों में इन से प्राप्त होने बाले आर्थिक लाभ को भी जोडा । छठे विकल्प वाले क्षेत्रो में स्वायत्त जिला परिषदों ने स्वतंत्र रूप से राज्य सरकार के कोशिशों को कार्यान्वित किया । इस तरह कानून और कानून का परि चालन दोनो ही स्वायत्त जिला परिषद् के अधिकार थे, जिन्होंने अधिकारिक रूप से राज्य सरकार के कानूनों को अपनाया था । प्रत्येक स्वायत्त जिला परिषद् के अपने वन-कानून थे, जो प्राथमिक रूप से परिवर्तन आधारित कृषि पद्धति में पहले से अच्छी संरक्षण प्रक्रिया पर जोर देते थे । उत्तर-पूर्वी भारत की एक खास विशेषता यह थी कि वन का बहुत ही छोटा भाग राज्य सरकार के प्रभावी नियंत्रण में था । 40 प्रतिशत से कम वन जमीन राज्य सरकार के नियंत्रण में थी जबकि 60 प्रतिशत से अधिक वन जमीन लोगों के अधिकार में थी । वन पर लोगों का नियंत्रण तीन प्रकारका था : 1) पारिवारिक स्वामित्व 2) वंश गत (जातिगत) स्वामित्व 3) ग्रामीण स्वामित्व । इन स्वामित्व के श्रेणियो के सापेक्षिक माप का ज्ञान नहीं था, लेकिन वनों पर नियंत्रण का पारिवारिक स्वामित्व जातिगत या गाँव परिषद् के नियंत्रण का विषय था और यह वही बिंदु था जब वन नीति में लोगों के सहभागिता का मुख्य प्रभाव था ।

अपने उच्च स्थान के गुणों के कारण गाँवो के मुखिया और जातिगत मुखिया गाँव के सामान्य स्रोत साधनों के लाभांश से अनुपात से अधिक भाग को ले सकते थे, और फलस्वरूप लोगोंको समुदाय स्रोत व्यवस्थापन के लिए सामान्य सहमति के लिए उत्तेजित करते थे, जो चुनौति थी । गाँव के मुखिया और जाति मुखिया द्वारा उत्पादनों के लाभांशो का 50 प्रतिशत को सदस्यों में बाटना एक ऐसी प्रक्रिया थी जो कि समुदायों को इस अभ्यास के विरूद्ध आवाज उठाने के लिए प्रेरित करती थी । ऐसी कई घटनाएं

पायी गई थी जिनके तहत वनीकरण के लिए लगाए गए वृक्षों को पूर्ण रूप से विकसित होने से पहले ही समुदायों द्वारा काट दिया जाता था । लेकिन प्रचलित संस्थागत और सामाजिक सांस्कृतिक ढाँचे ने ऐसी स्थिति की सृजना की जिसके तहत सामान्य स्रोत संम्पत्ति, खास कर वन के विकास में समुदायों के अर्थपूर्ण सहभागिता के अवसर प्राप्त हुए ।

सबसे महत्त्पूर्ण फायदा था, अनुकूल संस्थागत संरचना । चूँकि बहुत सी भूमियों और वन जमीनों पर लोगों का ही नियंत्रण रहा, जो कि सहभागी स्रोत व्यवस्थापन के रूप-रेखा का प्रारंभिक विन्दु था । दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि जन समुदायों के बीच इस चेतना को विकसित करना कि वन के संरक्षण और उसके उत्पादकत्व में वृद्धि के द्वारा दीर्घकालीन स्थायी विकास की ओर उन्मुख हुआ जा सकता है । दूसरा लाभ था स्व-व्यवस्थापन और शासन का मजबूत स्थानीय संस्थाओं का वर्तमान होना । ऐसी संस्थाए काफी समय से वर्तमान थी; और इनका मुख्य कार्य था अपने कानूनी सीमा के भीतर भूमियों और वन स्रोतों का परिचालन उपयोग और व्यवस्थापन करना । लेकिन यह लाभ उस व्यवहारिक पक्ष द्वारा नकारा गया जब इन संस्थाओं का कानून निर्माण अधिकार, नैयायिक क्रियाकलाप और आर्थिक अधिकार, आदि प्रक्रिया गत कठिनाईयों के कारण शक्ति हीन कर दिए गए और इसका कारण था कानून और कार्यों में दोहरे भाव की उपस्थिति । इस क्षेत्र में बीचौलिए, अनौपचारिक समुदाय आधारित, और स्वयं-सेवक संस्थाओं द्वारा सेवा उपलब्ध कराया जा सकता था ।

उत्तर पूर्वी पर्वतीय क्षेत्रों में बहुत से वन वर्गीकृत नहीं थे, जिनमे नीजि और समुदाय, नियंत्रित वन थे । केवल कुछ हिस्से ही वास्तव में स्थानीय प्रशासन द्वारा व्यवस्थित होते थे, और फलस्वरूप वृहत् वैमाने पर ह्रास ने स्वशासित संस्थाएं, स्वायत्त जिला परिषदों, या गाँव परिषदों को इन ह्रासोन्मुख वन जमीनों को वन या भू-संरक्षण विभाग को ठेके के आधार पर वृक्षारोपण करने और पुनरूत्पादन मूलक बनाने के लिए देने पर वाध्य किया, लेकिन अपर्याप्त पूर्व तैयारी के कारण समुदायों की सहभागिता में केवल कमी ही नहीं थी बल्कि उनकी सहभागिता नकारात्मक भी थी । इन क्षेत्रों में तीसरी प्रकार की संस्थाए जैसे गैर-सरकारी संस्थाएं या समुदाय आधारित अनौपचारिक संस्थाएं ऐसी घटनाओं को घटने से केवल रोक ही नहीं सकती थी बल्कि सहभागी स्रोत व्यवस्थापन और उपयोग को पुर्नसंचालन भी कर सकती थी । एक स्थानीय भूमिकर कानून, समुदायों के जमीनों के नीजिकरण के प्रक्रिया को धीमा कर सकता था और ऐसा होने के लिए पारंपरिक संस्थाओं का प्रजातांत्रिकरण बहुत महत्त्वपूर्ण था, जिसके लिए राजनीतिक परिस्थिति की अनुकूलता की आवश्यकता थी ।

भारत के उत्तर पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र में संयुक्त वन प्रबंध को कारगर होने के लिए वन विभाग और समुदाय आधारित अनौपचारिक संस्थाओं को अधिक सुविधा मूलक और तकनीति तथा आर्थिक सहयोग अधिकारिक रूप में उपलब्ध कराने में समर्थ होना था,

न कि केवल लाभांशों के प्राप्ति में । पारंपरिक (वा स्थानीय) स्रोत संरक्षण और व्यवस्थापन के नमूने सभी राज्यों में पाए गए थे । उत्तर पूर्वी क्षेत्र में यह समस्या थी कि संयुक्त वन प्रबंध से संबंधित दूसरे मुद्दों को समझने और सुलझाने के लिए स्वयं-सेवी संस्थाएं नहीं थी । साथ ही टीम्बर की चोरी, वन तस्करों और विना कोई रोक टोक के वन के गलत उपयोग से मुनाफा प्राप्त करने वाले तो एक गंभीर चुनौति के रूप में वर्तमान ही थे ।

भारत के पूर्वी हिमालय में स्थानीय शासन की विशेषताएं

- सभी राज्यों में गाँव परिषद् हैं तथा जिन्हें न्यायिक और प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हैं ।
- सभी भूमियाँ और वन स्रोत समुदाय के है न कि व्यक्ति वा राज्य के ।
- स्थानीय संस्था (गाँव परिषद्) भूमि और वन स्रोतों का उपयोग और व्यवस्थापन करती है ।
- शासन और प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन के लिए केवल एक ही संस्था जिम्मेवार है ।
- इस क्षेत्र में उपयुक्त स्वयं सेवी संस्थाएं नहीं हैं ।

समस्याएं और रूकावटें

- विशेष भूमि-कानून, नहीं है । सरकार ने परिवर्तित कृषि से छुटकारा पाने के लिए एक कार्यक्रम बनाया है और यह कार्यक्रम उद्यानकला की ओर उन्मुख है। इससे समुदायों के नेताओं ने भूमियों पर व्यक्तिगत संम्पत्ति के रूप में अधिकार जमाना शुरू किया है तथा उद्यान कला कृषि आरंभ किया है । समुदाय के सभी सदस्य यह नहीं कर सकते हैं । इस तरह इस प्रक्रिया ने भूमियों और वनों को नीजकरण की ओर धकेला है ।
- लाभांशो का समानुपातिक विभाजन नहीं है । लाभांश का आधा हिस्सा गाँव के नेता को मिलता है और आधे में से समुदाय के सभी सदस्यों को हिस्सा दिया जाता है ।
- आन्तरिक उल्झने वर्तमान हैं साथ ही निर्धनों के अधिकारों को सीमान्त किया गया है ।
- महिलाओं की स्थिति पहले की अपेक्षा अच्छी है, लेकिन पारंपरिक संस्थाओं में उनकी भूमिका कमजोर है । उन्हें निर्णय-निर्माण का अधिकार नहीं दिया गया है ।
- पंचायत शासन में 30 प्रतिशत सुविधा वर्तमान नहीं है ।
- स्रोत व्यवस्थापन में जरूरी पडने वाले कारीगरी और तकनीकियों का पारंपरिक संस्थाओं में कमी है ।

हिमाचल प्रदेश में वानिकी और स्थानीय शासन.
द्वारा कुलभूषण उपमन्यू ।

हिमाचल प्रदेश में दीर्घकाल से ही वन, टिम्बर उत्पादन और सौन्दर्य दोनों का केन्द्र बिन्दु था । लेकिन पिछले दो दशको में इन वनों के स्वस्थ विकास और भविष्य के विषय में चिन्ता महसूस की गई, फलस्वरूप उल्लेखनीय विचार विमर्श भी हुए । इस पत्र में उन प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला गया जिन्होने वन को प्रभावित किया । साथ ही वनों के बदलती हुए विशेषताओं की समीक्षा की गई, तथा भविष्य के लिए विकल्पों का सुझाव दिया गया ।

पिछले 150 वर्षो में वन स्थानीय समुदायों, साम्राज्यवाद और विकास जैसे विकल्पों के अधिकारिक विषय के रूप में रहा था, फलस्वरूप प्राकृतिक विकास को दाव पर लगाकर कृत्रिम विकास उभरा । स्थानीय समुदायों ने वन क्षेत्रों को ग्रामीणों और खाना-बदोशों दोनों के लिए टेरेस मूलक कृषि तथा स्थान मूलक खेती के लिए उपयोग करने का दावा किया । इन मागों के परिपूर्ति के लिए वन क्षेत्रों के उपजों को समुदायों के जरूरतों के अनुसार बदल दिया गया और लोगों को इच्छित कृषि कार्य के लिए वन जमीनों पर कार्य करना पडा । इस तरह वन-जमीन कृषि, भूमि, चारागाह और वन क्षेत्रों में बंटा और वन क्षेत्रों का प्राकृतिक विकास और पुनरूत्पादन शक्ति अवरूद्ध हुई । वन क्षेत्र प्राकृतिक शक्ति और सांस्कृतिक शक्ति के बीच के संतुलन के चित्र का प्रतिनिधित्व करता था ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के तहत टिम्बर निष्कासन, वन प्रशासन का मुख्य उद्देश्य था । वन (व्यवस्थापन) सेट्लमेन्ट के प्रक्रिया के माध्यम से स्थानीय समुदायों के वन उपयोग पर नियंत्रण (रोक) द्वारा अच्छे टिम्बरेां के उत्पादन का मार्ग खोला गया । पशुओं की वृद्धि में कमी में रोक के लिए और टिम्बर लाने के लिए उपयुक्त तरीकों के अलावा वैज्ञानिक वन व्यवस्थापन और सुधार मूलक वानिकी को प्रश्रय दिया गया । जिससे बहुत ही कम समय में ही स्थानीय लोगों की जीविका प्रभावित हुई । इस तरह ब्रिटीश-राज्य के बाद के समय में वन-जमीन उद्यानीकरण आदि के कारण औद्योगिक उद्देश्य की ओर अधिक अग्रसर हुए । सीमान्त करण की प्रक्रिया बढ्ने लगी और वन स्रोतों पर से स्थानीय समुदायों का नियंत्रण निरंतर रूप से घटने लगा । ब्रिटीश-साम्राज्य और उसके बाद दोनो ही समय में वन व्यापारिक उद्देश्य के लिए अधिक उपयुक्त होने लगा और स्थानीय जरूरतों के लिए इसका उपयोग कम हो गया ।

इन सभी प्रक्रियाओं का प्रभाव यह हुआ कि पारंपरिक सामुदायिक वन उपयोग पर रोक लग गया और इसका उलंघन अपराध माना गया । चारागाहों (पशुओं को चराने) पर रोक के कारण चारा आदि के माध्यम से होने वाले जीविकोपार्जन में कमी आयी और लोगों और पशुओं की बढ्ती हुई जन संख्या को ह्रासोन्मुख स्रोत आधारों पर

निर्भर करना पडा जिससे वन, ईंधन और चारों की लकडियों में निरंतर कमी दिखने लगी । इन बदलावों के कारण महिलाएं, पशुपालक, और ग्रामीण कारीगर ही अधिक प्रभावित हुए । शायद सबसे अधिक जैविक विषमता, इससे प्रभावित हुई और वन की विभिन्न प्रजातियाँ तथा वन-जन्तु धीरे - धीरे घट्ने लगे । वन संपदा का संरक्षण, ब्रिटिश साम्राज्य के बाद के समयों की नीति थी, और वन नाश के प्रभावों के प्रति बढ्ती हुई सचेतता ने हिमाचल प्रदेश के सरकार को वन ह्रास को रोकने वाले और उनसे संबंधित कार्यक्रमों के शुरूआत के लिए प्रेरित किया । इन कार्यक्रामों को तीन श्रेणियों में बांटा गया, जैविक विषमता संरक्षण, वन पुनरूत्पादन और समुदाय संलग्नता । अभी हाल तक राज्य-वानिकी का प्रधान उद्देश्य कर में बढोत्तरी के तहत वृक्षारोपण आरंभ हुआ । सीमान्तता और वन स्रोतों से स्थानीय लोगों को अलग रखने के कारण उनकी जीविका प्रभावित हुई, फलस्वरूप प्रतिस्पर्धा की भावना से वनों का गलत उपयोग (चोरी आदि) शुरू हुआ । हाल ही में संयुक्त वन प्रबंधी अवधारणा ने स्थानीय और वन विभाग के प्राथमिकता के बीच विरोधाभास को हटाने का प्रयत्न किया । लेकिन संयुक्त वन प्रबंध हिमाचल प्रदेश में गतिशील होने में असफल रहा । यह वन विभाग के कडियों को तोडने में असमर्थ रहा तथा जिसके तहत संयुक्त वन प्रबंध की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया गया था । चुँकि जिला वन प्रदाधिकारियों द्वारा संयुक्त वन प्रबंध कानूनी तौर पर स्वीकारा नहीं गया था इसलिए जो वन संयुक्त रूप से लोगों और वन विभाग द्वारा व्यवस्थापित किये जाते थे तथा उन वनों को विभाग पुन: अपने अधीन में कर सकता था ।

वन व्यवस्थापन में समुदायों की सक्रियता के प्रति सरकार के रूखे वर्ताव के बावजूद स्थानीय प्रणाली वर्तमान रही और यहाँ तक कि अधिकारियों के नकारात्मक व्यवहार के समक्ष और अच्छी तरह से सफल रही । पारंपरिक संरक्षण प्रणालियों में पवित्र वृक्ष श्रृंखला प्रणाली, अत्यधिक सफल रही और इसने राज्य सीमा को भी पार किया । दूसरी प्रणालियाँ जो कि अभी भी वर्तमान थीं, स्रोतों के निकास को नियमित किया ताकि स्थायित्व बना रहे । इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ आती थीं जैसे कि अधि-समय (ओभर टाइम), स्थान और मौसम गत । साथ ही, वन संरक्षण समूह राज्य और राज्य के बाहर भी उभरे जिनका काम था चारा और जलावन की लकडियों की कमी पर निगाह रखना । निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में इन समूहों की बहुत ही अधिक सहभागिता थी । इन्होनें स्थानीय जरूरतों को प्राथमिकता दी और विषम आवश्यक-ताओं (भिन्न भिन्न आवश्यकताओं) के प्रति इनका निर्णय लचीला था । ये कोशिशें (उपर्युक्त उल्लिखित समूह) भौतिक मापदण्ड जैसे कि अस्तित्व दर और कानून उल्लंघन के संदर्भ में भी अधिक सफल रहीं । महिलाओं की सहभागिता बहुत ही अधिक थी । बहुत सारी संस्थाओं के साथ समन्वय स्थापित हुआ ।

अस्सी के दशकों में चम्बा जिले के भतियत तहसील में व्यापारिक वानिकी के विरूद्ध जन-आदोलन एक महत्त्वपूर्ण कोशिश थी । इस आंदोलन ने राज्य के व्यापारिक

वानिकी को चुनौति दी । इस आंदोलन का मुद्दा था, व्यापारिक वानिकी के कारण जीविकोपार्जन का नाश और इसी आधार पर वार्ता के फलस्वरूप वन प्रशासन में जनमुखी परिवर्तन लाए गए थे और ये परिवर्तन थे, युकेलिप्टस के वानिकी पर रोक, निषेधित ओक का संरक्षण, और व्यापारिक प्रजातियों पर रोक । हिमाचल प्रदेश में जनमुखी परिवर्तनों के लिए आंदोलनों में यह प्रथम आंदोलन था । यद्यपि हिमाचल प्रदेश के लोगों के जीवका के पद्धतियों में वन ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाया है और निभाता रहेगा, लेकिन इन 150 वर्षो में बहुत से परिवर्तन दृष्टिगत हुए । लोगों ने अपने स्रोतों को बदल दिया जैसे कि ईन्धन और चारे को सामान्य भूमि में न उपजाकर नीजि भूमि में उपजाना शुरू किया, और तब बाजार की ओर उन्मुख हुए इस तरह स्थानीय वन की समृद्धि की ओर झुकाव कम होता गया । स्रोतों से अलग होकर जीविकोपार्जन की इस प्रणाली ने नए समाज को जन्म दिया । स्थानीय (आदिवासी) लोग वन से प्राप्त किए गए उत्पादों पर निर्भर करते थे, दूसरे प्रकार के लोग (जो वन के अतिरिक्त दूसरे स्रोतों पर भी निर्भर करते थे), अपने स्रोतों को बाजार से भी खरीद सकते थे, दूसरे स्थानों से आए लोगों (पर्यावरणीय कारण से स्थान परिवर्तन करने वाले लोग) ने आदिवासियों को स्थान च्युत किया । ये सीमान्त आदि-वासी न तो वन से संबंधित रहे और न हीं इनमे क्रय शक्ति थी ।

विकास की प्रक्रिया से सबसे अधिक वे लोग लाभान्वित रहे जो विभिन्न स्रोतों से संबंध रखते थे । जीविकोपार्जन और स्थानीय वन-स्रोतों के बीच संबंध विच्छेद हुआ और राज्य सरकार वन स्रोतों को इन्हें प्रदान करने के लिए बाधित हुई । यह ग्रामीकरण के दाव पर शहरीकरण के फैलाव का विकास था और साथ ही शक्ति का केन्द्रीकरण और संम्पत्ति का एकत्रीकरण इस बदलाब का फल था । यह प्रक्रिया केवल सामाजिक रूप से ही नहीं अनपेक्षित थी बल्कि पर्यावरणीय दृष्टि से भी अस्थायी थी । भूष्खलन और बाढ में वृद्धि ने यह सूचित किया किस तरह प्रकृति एक अनिश्चित भविष्य की ओर सूचित करती है । विकास के परिणाम और विकास के लिए चुकायी गई किमत बराबर नहीं थी । जीविकोपार्जन के मौके में बरावर की साझेदारी नहीं होने की वजह से भूमि और वन से जुडे लोग (आदिवासी) भी विभिन्न श्रेणीयों में बट गए, कुछ तो वन स्रोतों के सही उपयोग के प्रति भी नकारात्मक हो गए । उन पर जो कि वन से सीधे प्रकार से वन के उपजों को प्राप्त करते थे, और भी अधिक अनुपातिक बोझ आ पडा । समाज का कोई भी वर्ग वन के स्थायी उपयोग के प्रति सकारात्मक रूप से जुडे नहीं थे और इस तरह भविष्य में वन स्रोतों की अनिश्चित उपलब्धता के कारण इन उपभोक्ता के द्वारा वन उत्पादन का गैर जिम्मेवार तरीके से उपभोग किया जाने लगा । जीविका के जरूरतों के लिए प्राकृतिक स्रोतों का कम उम्र के होने की प्रकृत्ति में वृद्धि आया फलस्वरूप विवादों का जन्म हुआ ।

स्थानीय समुदायों मे ही एक आशा बची हुई थी जिनके माध्यम से वन विभाग को चुनौति दी जा सकती थी और स्थानीय पद्धति पर आधारित योजनाओं के द्वारा कमियों

का सामना किया जा सकता था । इस तरह जीविका के लक्ष्य की और स्थायित्व की परिपूर्ति के संयुक्त अभियान ने शासन और प्राकृतिक स्रोत व्यवस्थापन के आधारभूत मुद्दों में फिर से नयी जान डाल दी । इसके तहत वन उत्पादन की प्राप्ति की जिम्मेवारी और इसके (वन उत्पादन) के पुनरूत्पादन और स्थायी उपयोग के प्रति प्रतिबद्धता के बीच तारतम्यता की प्रधानता थी । इसका मुख्य उद्देश्य था लक्षित समूह (आदिवासी) के पुरूष और महिलाओं को इसमे शामिल करना । जीविका के ढांचे की विषमता और जैविक विषमता के साथ इसके संबंध को भी प्रकाशित किया गया ।

अधिकार उसी तरह वर्तमान थे जिसके तहत वे लोग भी जो कि वन स्रोतों पर ही केवल निर्भर नहीं करते थे, वे भी वन स्रोतों का निरंतर रूप से प्रयोग करते रहे, लेकिन स्रोतों के संरक्षण के प्रति अपनी जिम्मेवारी महसूस नहीं करते थे । फलस्वरूप आदिवासियों द्वारा की गई संरक्षण की कोशिशें बाधित हुई । स्थानीय संरक्षण समूह ने वन व्यवस्थापन के लिए एक आदर्श इकाई को पाया, यह इकाई थी, छोटे गाँव का समूह जो एक ही वन क्षेत्र का उपयोग करती थी । सभी सदस्यों के बीच खुली सभाओं में पारदर्शी निर्णय प्रक्रिया ने तृण-मूल स्तर पर सहभागिता को सकारात्मक भूमिका और प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की ओर निर्देशित किया ।

हिमाचल प्रदेश में विकास कार्यों का 65 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार द्वारा कार्यान्विक किया गया । केन्द्रीय लक्ष्य को पूरा करने के लिए ये परियोजनाएं कार्यान्वित की गई, और इस तरह स्थानीय स्वामित्व की भावना की कमी हुई । पंचायती प्रशासन भी प्राकृतिक स्रोत संरक्षण और व्यवस्थापन में संलग्न नहीं थी केवल केन्द्रीय परियोजनाओं के परिचालन में सक्रिय थीं । यद्यपि स्थानीय लोगों ने स्थानीय पंचायत के प्रतिनिधियों का चयन किया था लेकिन चूँकि जिला मजिस्ट्रेट को अधिकार था कि वह इन प्रतिनिधियों को बर्खास्त कर सकता था, इसलिए ये प्रतिनिधि मतदाताओं की अपेक्षा इन मजिस्ट्रेटों के प्रति अधिक जिम्मेवार थे ।

विभिन्न मंत्रालय और सरकारी विभाग कृषि उत्पादनों को बढाने पर जोर दे रहे थे, लेकिन उनका दृष्टिकोण वर्ग विशेष तक ही सीमित था । चूँकि विभागों के बीच कार्य कलाप समन्वयात्मक नहीं था इसलिए जन सहभागिता के नाम पर कार्यों में दोहरापन पाया गया । ग्रामीण लोगोंका जीवन, स्रोत आधारित था लेकिन स्रोत व्यवस्थापन की ओर समग्र दृष्टिकोण नहीं थी ।

हिमाचल प्रदेश के वनों पर उनके उत्पादन क्षमता से बढकर बोझ आन पडा । वनों के स्थायी व्यवस्थापन के लिए निकास (वन उत्पादनों का व्यापारिक निकास) को पर्यावरणीय दृष्टि से सीमित करने के लिए निश्चितता होनी चाहिए, और इन निकासों से प्राप्त लाभांशों का विभिन्न प्रकार के उपभोक्ताओ में विभाजन होना चाहिए तथा इसकी कीमत उन्हें भी चुकानी चाहिए जो वनका उपयोग तो करते थे लेकिन इसकी सुरक्षा से

दूर थे । जीविकोपार्जन के नए तरीकों को वन के समृद्धि से जुडना चाहिए । स्थानीय जरूरतों को मद्दे नजर रखते हुए स्रोत व्यवस्थापन होनी चाहिए न कि औद्योगिक और व्यापारिक जरूरतों के लिए । दीर्घकाल के परिप्रेक्ष्य में उत्पादन के स्वभाव और बाजार के उतार-चढाव का सामना कर सकने योग्य विभिन्न प्रकार के जीविकोपार्जन की रूपरेखा तैयार हो, इसकी जरूरत है । समानता के सिद्धान्त का अनुगमन होना चाहिए ।

न्याय-सम्मत वन व्यवस्थापन के लिए नयी संस्थाओं का निर्माण होना चाहिए था । इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था थी स्थानीय उपभोक्ताओं का समूह । वन पर सामुदायिक अधिकार द्वारा व्यक्तिगत अधिकार को खतम किया जाना चाहिए था । स्थानीय जरूरतों को पूरा करने के उद्देश्य से वन विभागकी भूमिका को फिर से परिभाषित करने की आवश्यकता थी । वन विभाग की कोशिशों को नीति निर्माण और स्थानीय जरूरतों को नजर अंदाज करने की प्रवृत्ति से हट कर समान और स्थायी वातावरण में स्थानीय इकाईयों के कार्यकलाप पर केन्द्रित किया जाना चाहिए । स्थानीय परिवर्तनों जैसे कि, अधिकारों के क्षेत्रों (अधिकार सीमा) का पुर्नव्यवस्थापन और स्थानीय इकाईयों को कानूनी मान्यता की जरूरत थी । अन्त में समाज में दृष्टिकोण में परिवर्तन की आवश्यकता थी, और साथ ही विभिन्न प्रकार के विकास मूलक कार्यकलाप और कानूनी परिवर्तनों का एक मजबूत सामाजिक आधार को निश्चित करना था, और ऐसा वातावरण तैयार करना था जो हिमाचल प्रदेश के लोगों की जरूरतों को पूरा करे ।

हिमालच प्रदेश के लिए आवश्यक रूपरेखा

- ग्रामीण समुदाय एक संवैधानिक इकाई होनी चाहिए और इसे कानूनी मान्यता मिलनी चाहिए ।
- प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के आधार पर न कि प्रतिनिधि प्रजातंत्र के आधार पर लिङ्ग भेद और समानता के मुद्दों को सुल्झाना चाहिए ।
- निर्वाचित प्रतिनिधियों की भूमिका समन्वय और सुविधा प्रदान कर्ता, के रूप में होनी चाहिए लेकिन निर्णय-निर्माण अधिकार सामुदायिक संस्थाओं पर आधारित होना चाहिए और यह गाँवं परिषद् के माध्यम से जुडा होना चाहिए ।

उत्तराखण्ड में वन और गाँव समुदाय भूमि

द्वारा आर.एस. तोलिया

प्राकृतिक स्रोतों जैसे कि भूमि, वन, जल और मत्स्यपालन आदि का एक बहुत बडा भाग लोगों के द्वारा उपयोग किया जाता था । इसे सामान्य संम्पत्ति स्रोत के नाम से जाना जाता था । ऐसे सामान्य संम्पत्ति स्रोतों ने प्रत्यक्ष रूप से अनगिनत लोगों को खास कर ग्रामीण लोगोंको जीवका प्रदान और प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से कृषि, आर्थिक

और पर्यावरणीय विकास में सहयोग दिया । ये सामान्य संम्पत्ति स्रोत बुरी तरह से दबाए गए जो न्यून उत्पादकत्व के कारण बने । इनका पुर्न संचालन होना आवश्यक था, ताकि ये आर्थिक वृद्धि और विकास में पूर्ण रूप से योगदान दे सकें । सामान्य संम्पत्ति स्रोत के स्थायी व्यवस्थापन के लिए इनका सजग निरीक्षण और मूल्यांकन आवश्यक था । समानता के दृष्टिकोण और पहुंच के अभाव में इनका और भी अधिक अनअनुपातिक और नकारात्मक उपयोग हो सकता था । सामान्य संम्पत्ति स्रोत से संबंधित समस्याओं के कारणों का निश्चित रूप से खोज होना चाहिए और उनके समाधान की ओर अग्रसर होना चाहिए । इस परिपत्र में उत्तराखण्ड (उत्तर प्रदेश) भारत में भूमि और वन का ग्रामीण समुदायों के साथ ऐतिहासिक संबंध पर प्रकाश डाला गया ।

भारत में सामान्य संम्पत्ति स्रोत के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के स्रोत आते हैं, सभी सुरक्षित वन, सभी अवर्गीकृत वन, ह्रासित वन भूमि तथा एक तिहाई से अधिक गैर वन भूमि । इसलिए इन स्रोतों के पूर्ण संचालन, व्यवस्थापन और विकास के प्रति पूर्ण ध्यान दिया जाना चाहिए । भारत के पर्वतीय क्षेत्र के लोगों के लिए वन स्रोत विशेष महत्त्व रखते थे । उत्तराखण्ड में 19 वीं शताब्दी के मध्य में भूमि व्यवस्थापन के कई प्रयास किए गए और ग्रामीण संम्पत्तियों के प्रति कुछ विशेष प्रचलित हक भी कायम किए गए जो वर्तमान समय तक भी ग्रामीणों के मस्तिष्क में विद्यमान हैं ।

वन व्यवस्थापन और जमीन से संबंधित बहुत सारे मुद्दे जैसे कि 'नापे हुए जमीन' बनाम 'बिना नापे हुए जमीन' आदि उलझे हुए मुद्दों को समझना आवश्यक था क्योकि उत्तराखण्ड में सारी जमीनें या तो 'नापे हुए जमीन' के वर्ग में पडती थी या 'बेनाप-वर्ग' की जमीनो के अन्तर्गन आती थी । जमीनों को वर्गीकृत करने के लिए उत्तराखण्ड के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न नियमों की व्यवस्था थी । जबकि राज्य के सभी 'बेनाप' जमीनें राज्य के संम्पत्ति थे तो कुछ ही अधिकार ग्रामीण को वन क्षेत्र के लिए दिए गए थे, और स्थिति यह थी कि उत्तराखण्ड का बहुत ही छोटा हिसा 'नापित वर्ग' के अन्तर्गत आता था जो कि नीजि संम्पत्ति थी ।

स्वतंत्रता के बाद स्थानीय समुदायों ने एक एकड जमीन तक कृषिगत पकड की छूट पायी । किन्तु इस छूट की प्रक्रिया ने यह डर उत्पन्न किया कि हो सकता है कि जमीनों के अनियंत्रित उपयोग और अनाधिकार वर्चस्व इन क्षेत्रों को पूर्ण रूप से विलय ही कर दे । 1955 से 1966 तक के जमीन व्यवस्थापन कार्यक्रम ने गाँव सीमा के अन्तर्गत आने बाली करीब-करीव प्रत्येक 'बेनाप' जमीन को नापा और इस तरह 'बेनाप' जमीन की अवधारणा समाप्त हुई । हाल ही में पर्वतीय क्षेत्र खटौनी (अधिकारों का रेकर्ड) ने दो प्रकार की जमीनों का उल्लेख किया - जमीन्दारी खटौनी, इस व्यवस्थापन से पहले के नापे हुए जमीन और जमीन्दारी रहित खटौनी, वो जमीनें जो वर्तमान व्यवस्थापन के तहत नापी गई थी । इस प्रणाली के अन्तर्गत कुछ जमीनें 'वन जमीन' के अन्तर्गत रखी

गई और इस तरह 1980 के 'वन संरक्षण कानून' के द्वारा यह लागू किया गया कि 'वन जमीन' गैर वन कार्यकलापों के लिए परिवर्तित नहीं किया जायगा, यदि किया भी गया तो पहले केन्द्र सरकार से स्वीकृति प्राप्त करनी होगी ।

उत्तराखण्ड में वन से संबंधित बहुत से सरकारी प्रयास किए गए उनमें से कुछ उपभोग मूलक थे और कुछ संरक्षण मूलक । उत्तराखण्ड के इतिहास ने इसके अलावा लोगों के विभिन्न प्रतिक्रियाओं को भी झेला है । इस शताब्दी के आरंभिक दशकों में करीब 30,000 हेक्टर वनों को आग लगा दिया गया । जाँच बुझ समिति ने इस घटना का विवरण दिया और बहुत सारे ऐसे मुद्दे सामने आए जो समुदायों के पक्ष में थे, फलस्वरूप बहुत से ऐसे सुझाव पेश किए गए जो सरकार द्वारा स्वीकृत किए गए । इस रिपोर्ट ने 1911-17 के जमीन व्यवस्थापन द्वारा दिखाए गए बृहत पैमाने पर 'सुरक्षित वन' को रेखांकित किया और बहुत से ऐसे नियमों को भी दिखाया जो कि निवासियों के वन के प्रति अधिकारों को नियंत्रित करने के लिए बनाए गए थे । इनमें से कुछ नियम तो उस क्षेत्र में रहने वाले लोगों द्वारा बहुत ही अस्पष्ट रूप से समझे गए थे । इस समिति ने यह भी महसूस किया कि इन समुदायों की शिकायतों के साथ-साथ, जोकि 11 वर्गो में विभाजित थे, साक्षियों ने साधारणत: उनके हको से संबंधित मुद्दों को पहचाना था जिसके तहत यदि वन लाभांशों को स्थानीय लोगों में वितरित किया जाता व्यापारिक रूप से मूल्यवान वनों का संरक्षण और उपयोग हो सकता था । वन नीतियों के पाक्षिक परिणाम जैसे कि वानिकी के कार्यक्रम के कारण श्रम का कृषि और आय उत्पादन से पलायन, फलस्वरूप बहुत से स्थानीय लोग निर्धनता की ओर अग्रसर हुए । इस तरह इन उपर्युक्त मुद्दों को भी समिति ने रेखांकित किया ।

चार साधारण उपायों का प्रस्तावित किया गया, संक्षेप में वे इस प्रकार थे: (१) कुछ विशेष प्रकार के वनों को सरकार के नियंत्रण से अलग करना, (२) सुरक्षित-वनों के सीमा रेखाओं का पुनरावलोकन, (३) सरकार द्वारा वन अधिग्रहण के प्रक्रियाओं की खोज-बिन, जिन के प्रति लोगों की शिकायतों को दूर नहीं किया गया था (४) जहाँ तक संभव हुआ सुरक्षित-वन से संबन्धित नीति नियमो को खारिज किया गया । फलस्वरूप दो प्रकार के सुरक्षित-वन निश्चित किए गए, जिनमें एक था जिसके तहत निषेध नाम मात्र को था और स्थानीय निवासी इसका उपयोग कर सकते थे । 'कुमाउ वन शिकायत समिति' 1921 अक्टूबर, द्वारा प्रस्तावित इन चार उपायों से ही, सामुदायिक वन जो कि पहाडों में 'पंचायती वन' या 'वन पंचायत' के नाम से जाने जाते थे, उभरे थे ।

पूर्व रूप से 'कुमाऊँ वन शिकायत समिति' सामुदायिक वानिकी में विस्तारता लाने के लिए मुख्य भूमिका निभाने वाले के रूप में समझा गया । साथ ही ब्रिटीश साम्राज्यवाद के खिलाफ उठने वाल जन-आवाज को भी इसने सहायता प्रदान की थी । लेकिन कुछ वर्तमान शिकायतें भी कम महत्वपूर्ण नहीं थी जैसे स्थायी वन व्यवस्थापन और उसका आर्थिक पक्ष और, सीमान्त लोगों की जरूरतें ।

चारागाह और व्यापारियों से शुल्क संकलन जैसी दूसरी शिकायतों को समझा गया और सुझाव प्रस्तावित किए गए । जैसे कि कुछ दोषारोपण, यथा मंदिर, वृक्ष और छोटी वाटिकाएं सुरक्षित-वन के अन्तर्गत शामिल किए गए थे, जो कि कुछ जगहों में सच साबित हुए थे । फलस्वरूप यह आदेश हुआ कि इन उपर्युक्त शिकायतों को दूर किया जाए और सही स्थिति पैदा की जाए । इस समिति ने यह भी सुझाव दिया कि सभी स्कूलो में वानिकी के महत्त्व का परिचय दिया जाए और वन संरक्षण की जरूरत से भी अवगत कराया जाए । इस कार्यक्रम का उद्देश्य यह था कि लोग स्वयं ही संरक्षण के तरीकों को अपनाएगें और यहाँ तक कि उन वनों के संरक्षण के प्रति भी सचेत रहेगें जो 'सुरक्षित वन' के दायरे से बाहर थे ।

और जब सरकार ने समिति के सुझावों को स्वीकृत किया तो वर्ग एक के सुरक्षित वनों में और भी अच्छे वन व्यवस्थापन के अभ्यासों को लागू होते देखना काफी कौतुहल पूर्ण था । कुमाऊँ के लोग बहुत से सालो सें, कुमाऊँ को समय प्रतिबंधित जिला कानून से अलग करने के लिए आंदोलन कर रहे थे, फलस्वरूप 1927 में इसके परिक्षण के लिए एक समिति स्थापित की गई । लेकिन 1937 में जब भारत सरकार के निर्देशानुसार कुमाऊँ कानून को विभिन्न सम्पूर्ण भारत कानून के अन्तर्गत मिला दिया गया तब कुमाऊँ से संबंधित कानून का लचीलापन खतम हो गया । फलस्वरूप सामान्य संम्पत्ति स्रोतों से जुडी हुई बहुत सी आवश्यकताएं जैसे कि भूमि, वन और जल, बुरी तरह से प्रभावित हुई और उत्तराखण्ड के पर्वतीय क्षेत्र को हानियों का सामना करना पडा जो आज भी जारी है ।

उस समय राज्य सरकार ने यह महसूस किया कि कुमाउँ के प्रशासन को दूसरे क्षेत्रों के प्रशासन के साथ मिला कर चलाना होगा और इसी के तहत आवश्यक सुझावों के लिए 'कुमाऊँ कानून समिति' की स्थापना की गई । पूर्व की 'कुमाउँ वन शिकायत समिति' एक सामान्य संम्पत्ति स्रोत, वन से जुडी हुई थी जब कि यह 'कुमाऊँ कानून समिति' विभिन्न स्रोतों जैसे कि जमीन, और प्रशासन से संबंध रखती थी ।

जब 1940 में समिति ने रिपोर्ट पेश किया तो क्षेत्रीय सरकार ने यह निर्णय लिया कि प्रस्ताव के अनुसार कोई नए कानून की व्यवस्था नहीं की जाएगी बल्कि जहाँ तक संभव हो सकेगा पुराने नियामों में ही संशोधन किया जाएगा ।

1920 ई. के दौरान पंचायती वन आंदोलन मद्रास सरकार के द्वारा आरंभ किया गया था । इसकी सफलता ने उनकी प्रणालीयों का अध्ययन करने के लिए 1927 में उत्तर प्रदेश सरकार ने एक विशेष अधिकृत नियुक्त करने का फैसला किया । तत्पश्चात उत्तर प्रदेश में आंदोलन प्रारंभ हुआ और विभिन्न स्थानों, जैसे कि गढवाल और अल्मोडा में पंचायती वन अचानक उभरने लगे । कुमाउँ के संदर्भ में वन संबंधी मुद्दों में कमीशनर को सहायता पहुँचाने के लिए 'कुमाऊँ वन सलाहकार समिति' की स्थापना हुई ।

'कुमाऊँ वन शिकायत सलाहकार समिति' ने अपने विवरण में वर्ग दो के वनों और पुराने सुरक्षित वनों के उपयोग के संदर्भो में ग्रामीणों के अधिकारों और छूटों को भी समाविष्ट किया । इस समिति ने कुमाऊँ के 'सुरक्षित वनों में ग्रामीणों के अधिकार की खोज' शीर्षक के तहत एक विवरण प्रकाशित किया । चारागाह संबंधी अधिकारों में लचीलापन लाया गया और दूसरे सुझाव भी पेश किए गए । इसी बीच 1940 तक वन पंचायत काफी हद तक प्रगती में थी फलस्वरूप 1993 तक केवल उत्तराखण्ड में 4,064 और 15,951 सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के गाँव ने अपने सामुदायिक वनों को अपना लिया था । इस प्रक्रिया को 'संयुक्त वन प्रबंध' ने पूर्ण सहयोग दिया था ।

1976 के भारतीय संविधान संशोधन ने वन और वन्य जीव जन्तु संरक्षण को राज्य सरकार की अनुसूचि से हटा कर समसामयिक सूचि में शामिल किया ताकि इनके संरक्षण को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया जा सके । 1980 का 'वन संरक्षण कानून' जो कि उपर्युक्त तब्दीली के बाद का पहला कानून था, जिसके तहत यह प्रस्तावित किया गया था कि बिना केन्द्र सरकार के पूर्वस्वीकृती के राज्य सरकार किसी भी सुरक्षित वन को गैर-सुरक्षित वन घोषित नहीं कर सकती है । 1989 के संशोधन ने सभी वन जमीन के संरक्षण और लोगों की आवश्यकताओं के बीच संतुलन पैदा करने में काफी हद तक सहयोग दिया । 1985 में वन तथा पर्यावरण मंत्रालय की स्थापना की गई । इस मंत्रालय को राज्य सरकार के वन विभाग को नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया । इस प्रकार के विभिन्न केन्द्रीकरण प्रणाली ने एकबार फिर असंतुलन कायम किया और लोग पुन: वन से बेरूख होने लगे और यह स्थिति केवल उत्तर प्रदेश में ही नहीं थी बल्कि संपूर्ण भारत इससे प्रभावित हुआ । वन व्यवस्थापन और उसके उत्पादनों के प्रति लोगों के अधिकार को समझा गया और 1988 के भारतीय वन नीति और नीति सर्कुलर जून 1, 1900 के माध्यम से संपूर्ण भारत में 'संयुक्त वन प्रबंध' को मान्यता दी गई ।

इन नई नीतियों ने स्थानीय समुदायों और स्वयंसेवक संस्थाओं को सरकार के सहयोगी का दर्जा देते हुए वन संरक्षण और उपेक्षित जमीनों के पुनरूत्थान में इन्हें शामिल किया । लोगों के जरूरतों को पूरा करने को प्राथमिकता दी गई । फलस्वरूप काफी बदलाव आया क्योंकि पहले की नीतियों के अनुसार स्थानीय लोगों को वन नाशक के रूप में देखा जाता था और उन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता समझी जाती थी । तथ्यगत रूप से वन तथा पर्यावरण मन्त्रालय द्वारा प्रस्तावित और उत्थापित संयुक्त वन प्रबंध से बहुत पहले ही यह प्रणाली 'वन पंचायत' के नाम सें उत्तराखण्ड में प्रचलित हो चुकी थी । इसी प्रकार के दूसरे सामुदायिक वन प्रणालियाँ विभिन्न राज्यों में वर्तमान थी जो वन विभाग की सहायता से पुन: संचालित किए गए ।

दूसरे राज्यों के सामुदायिक वन अभ्यासों की तुलना में वन पंचायत विभिन्न विशेषताओं को धारण करता है । ये वन पंचायत स्थानीय समुदायों के विरोध से उभरे थे, क्योंकि

सरकार वनों को आर्थिक स्रोत के रूप में देखती थी लेकिन इन के समुदायों के विरोध ने वनों और सुविधाओं को निश्चित किया । ये वन पंचायत अभी भी केवल एक ही संयुक्त वन व्यवस्थापन प्रणाली हैं, जिसे 1925 का वन कानूनी सहयोग प्राप्त है । और जब इन वन पंचायतों का एक बार वन जमीन पर निर्माण हो जाता है तो, उन्हें हटाया नहीं जा सकता है । इन वन पंचायतों का सभी वर्ग के सुरक्षित वनों तक विस्तार हो सकता है और वर्ग २ के सुरक्षित वनों द्वारा भी निर्मित हो सकते हैं, यहाँ तक कि पुराने सुरक्षित वनों द्वारा भी इनका निर्माण हो सकता है । इस तरह वन पंचायत ही केवल ऐसा संयुक्त वन प्रबंध प्रणाली है, जिसका विस्तार सभी वन जमीनों पर हो सकता है । 1980 के वन संरक्षण कानून के तहत नए वन पंचायतों के निर्माण के लिए स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है । इस तरह की प्रणाली देश के किसी भी संयुक्त वन व्यवस्थापन प्रणाली में नहीं अपनायी गई थी ।

1992 के 73 वें संविधान संशोधन ने विकेन्द्रीकृत योजना को स्थान दिया । इसके तहत पंचायती राजों को उनके अपने मुद्दों को प्रजातांत्रिक वातावरण में व्यवस्थित करने का मौका दिया गया और उनके बहुत से अधिकार गाँव पंचायत के अधीन थे । गाँव पंचायत को आवश्यकता पड़ने पर वन पंचायत सहयोग उपलब्ध करा सकता था और यहि स्रोत पूर्ण रूप से उपलब्ध हों तो उनका प्रयोग भी किया जा सकता था ।

पूर्वकाल में वन पंचायत वन विभाग, और कर विभाग की उपेक्षा को भोग चुका था क्योंकि इन्हीं विभागों द्वारा उसका व्यवस्थापन और नियंत्रण किया जाता था । 1992 के बाद वन पंचायत की स्थिति में सुधार लाने के लिए काफी कदम उठाए गए । 1998 के मार्च में उत्तर प्रदेश में एक वृहत वन परियोजना जो कि विश्व बैंक द्वारा सहयोगित था, आरंभ किया गया । इसके उद्देश्यों में एक था वन पंचायत को सहयोग देना । लेकिन यह सहयोग तभी उपलब्ध हो सकता था जब ये वन पंचायत विश्व बैंक द्वारा 'संयुक्त वन प्रबंध' प्रणाली को लागू करने के लिए बनाए गए रूप रेखा को स्वीकार करे । यह विशेष पर्वतीय गाँव उत्तराखण्ड में 'संयुक्त वन प्रबंध' योजना परिचय कराने के कारण औपचारिक रूप से आदर्श गाँव प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया । अपने स्रोतों को स्वयं ही व्यवस्थापित करने के लिए समुदाय की यह एक आधुनिक प्रतिबद्धता थी ।